# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

## ॐ हीरक-जयंती अंक ॐ

सं० २०१०

स्व० पंडित रामनारायण मिश्र की पुण्य स्मृति में
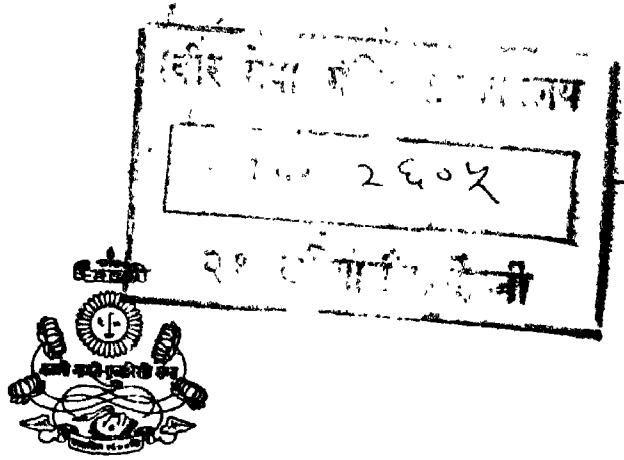
संपादक

हजारीप्रसाद द्विवेदी : कृष्णानंद

सहायक संपादक

पुरुषोत्तम

## पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

## सूचना

(१) प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

(२) पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण एवं सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

(३) पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्ति-स्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना साधारणतः एक मास के भीतर दी जाती है।

(४) लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग वा उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

(५) पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। सभी प्राप्त पुस्तकों की प्राप्ति-स्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है, परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

### नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

वार्षिक मूल्य १०) : इस अंक का ५)

मुद्रक—महताब राय, नागरीप्रचारिणी सभा, नागरी मुद्रणालय, काशी।

# विषय-सूची

नागरीप्रचारिणी सभा के अन्यतम संस्थापक

## स्व० पंडित रामनारायण मिश्र

( आषाढ़ कृष्ण ११ सं० १९३३—फाल्गुन कृष्ण १३ सं० २००९ )

[ विशेष पृष्ठ ३०७ पर ]

# निवेदन

विगत १६ जुलाई १९५३ को सभा के कार्यव्यस्त जीवन के साठ गौरवपूर्ण वर्ष व्यतीत हो गए। उसके उपलक्ष में आज सभा के सभासद सोत्साह उसकी हीरक-जयंती मना रहे हैं। बड़े सौभाग्य से हिंदी के प्रेमियों और विद्वानों के लिये यह एक महान् पुण्य पर्व, अभूतपूर्व उल्लास के साथ-साथ अतीत के स्मरण, भविष्य के चिंतन, तथा वर्तमान के प्रत्येक क्षण के सदुपयोग का उद्बोधक संदेश लेकर उपस्थित हुआ है।

नागरीप्रचारिणी सभा अपने विगत साठ वर्षों में नागरी लिपि और हिंदी भाषा एवं साहित्य के लिये जो कुछ कर सकी है वह हिंदी के इतिहास का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अविस्मरणीय अध्याय है। सभा की स्थापना के कुछ ही वर्ष पहले स्वामी दयानंद सरस्वती और भारतेंदु हरिश्चंद्र का स्वर्गवास हो चुका था। इन दोनों महान् हिंदी-अभिमानियों की समर्थ वाणी के द्वारा एक नई चेतना और स्फूर्ति हिंदी के प्रति सर्वसाधारण में उत्पन्न हो गई थी, परंतु आधुनिक युग के अनुरूप हिंदी में कोई भी निर्माण-कार्य उस समय तक नहीं हो सका था, जिसके अभाव में शिक्षितवर्ग हिंदी को तुच्छ समझकर अंग्रेजी की ही ओर अधिक झुका हुआ था। उस समय जगी हुई चेतना और स्फूर्ति विचारवानों को कुछ ठोस कार्य करने की प्रेरणा दे रही थी। वैसे ही उत्साहमय वातावरण में बाबू श्यामसुंदरदास, पंडित रामनारायण मिश्र तथा ठाकुर शिवकुमार सिंह द्वारा इस सभा की स्थापना हुई। तब से आज तक हिंदी का इतिहास प्रधानतः सभा द्वारा ही निर्मित हुआ, यह अतिशयोक्ति नहीं है। जो प्रत्यक्ष रूप से सभा द्वारा निर्मित नहीं हुआ उसका भी प्रारंभ में नेतृत्व सभा ने ही किया। सभा के कार्यकर्ताओं ने देश में घूम-घूमकर हिंदी का प्रचार किया, जगह-जगह शाखा-सभाएँ स्थापित कीं, अदालतों और विद्यालयों में हिंदी को स्थान दिलाने का उद्योग किया और साथ ही हिंदी साहित्य को समृद्ध करने के लिये भी बहुत से ठोस कार्य किए। यथा, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया, जो आज अट्ठावन वर्षों से हिंदी की प्रधान शोध-पत्रिका है; आर्यभाषा पुस्तकालय की स्थापना की, जो हिंदी का सबसे बड़ा

पुस्तकालय है ; उत्तरप्रदेशीय सरकार की सहायता तथा डा० ग्रियर्सन जैसे विद्वानों की सम्मति से प्राचीन हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज का कार्य आरंभ किया, जिसके सन् १९०० से १९४९ तक के विवरण तैयार हुए और सन् १९२९ तक के विवरण छप चुके हैं। इन विवरणों के ही आधार पर सभा ने हिंदी साहित्य के इतिहास का निर्माण कराया। सभा ने पहलेपहल प्रामाणिक रूप में हिंदी शब्दसागर वैज्ञानिक कोश और हिंदी का व्याकरण प्रस्तुत किया तथा पृथ्वीराज रासो, सूरसागर, तुलसी-ग्रंथावली, जायसी-ग्रंथावली, कबीर-ग्रंथावली आदि प्राचीन ग्रंथों का प्रकाशन किया। सं० १९५७ में 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन प्रारंभ किया जिसके प्रथम संपादक सभा के अन्यतम संस्थापक बाबू श्यामसुंदरदास थे। सं० १९६७ में बाबू श्यामसुंदरदास के ही प्रस्ताव पर सभा द्वारा हिंदी-साहित्य-संमेलन की स्थापना हुई और यहीं उसका प्रथम अधिवेशन हुआ। 'सरस्वती' और संमेलन ने हिंदी की जो अपूर्व सेवाएँ कीं वे हिंदी-संसार को भली भाँति विदित हैं। सभा आज भी हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति द्वारा राष्ट्र की बहुमूल्य सेवा में तत्पर है।

हीरक-जयंती के अवसर पर सभा के इन कार्यों का हर्षपूर्वक स्मरण स्वाभाविक है। परंतु भविष्य में इसे हिंदी की वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप और भी उपयोगी कार्य करने हैं। हमें आशा और विश्वास है कि इस अवसर पर एकत्र हिंदी के विद्वान् तथा सभा के सदस्य मिलकर उन आवश्यकताओं और उनकी पूर्ति के उपायों पर गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे।

* * *

सभा के संस्थापकों में स्वर्गीय बाबू श्यामसुंदरदास के बाद विशेषतः स्वर्गीय पंडित रामनारायण मिश्र की लगन तथा कर्मठता से सभा के कार्यों की बहुविध प्रगति हुई। सं० २००० में सभा की स्वर्ण-जयंती उनके तपे नेतृत्व में बड़ी सफलता से संपन्न हुई थी। तब से ही अपने अंतिम श्वास तक वे सभा की उत्तरोत्तर प्रगति तथा यथावसर उसकी हीरक-जयंती की तैयारियों के लिये सोत्साह तत्पर रहे। अब इस हीरक-जयंती के पुण्य अवसर पर उनकी सुदीर्घ सेवाएँ तथा लगनमयी प्रेरणाएँ विशेष स्मरणीय हैं। अतएव दिवंगत पंडित रामनारायण मिश्र की पुण्य स्मृति में पत्रिका का यह विशेषांक समर्पित हो, यह सभा की आकांक्षा हुई, जिसकी यथा-साध्य पूर्ति में यह अंक निवेदित है।

—संपादक

# राष्ट्र-भारति !

[ श्री मैथिलीशरण गुप्त ]

उठ बोले विविध विहंग जाग।

आई है मुकुट धरे ऊषा

भरे अपूर्व सुहाग-राग।

रहे राष्ट्र-भारति, मेरा ही

सूना क्या यह भाल-भाग ?

पाऊँ मैं तेरे भक्तों के

प्रिय पद-पद्मों का पराग।

# सरस्वती-वंदना

[ श्री राजेंद्रनारायण शर्मा ]

अनमोल तुम्हारी वीणा का
अभिनंदन हम सब करते हैं।

वह शब्दमयी वह अर्थमयी ध्वनिप्रतिमाधर नवरसरुचिरा
संसृति के प्रथम महाकवि की अनहद स्वरस्पंदन छंदगिरा
रस छंद प्रबंध निकल जिससे, जिसके स्वर में स्वर भरते हैं

उस नित्यनिनादनवीना का
अभिनंदन हम सब करते हैं।

जिसकी अनुभूतिकला अहरह नित नव संगीत शिखाभास्वर
उठ आदि कल्पना के गृह में वर्णों को देती रूप सुघर
जिस रूपसुघरता से आहत जड़ता के बंध बिखरते हैं

उस ज्योति तमोगुणहीना का
अभिनंदन हम सब करते हैं।

# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

卐 हीरक-जयंती अंक 卐

वर्ष ५८ ] संवत् २०१० [ अंक ३


# पदमावत के कुछ विशेष स्थल


[ श्री वासुदेवशरण ]


मलिक मुहम्मद जायसी कृत पदमावत की भाषा ऊपर से देखने पर बोलचाल की देहाती अवधी कही जाती है, किंतु वस्तुतः वह अत्यंत प्रौढ़, अर्थ-संपत्ति से समर्थ शैली है। अनेक स्थानों पर जायसी ने ऐसी श्लेषात्मक भाषा का प्रयोग किया है जिसके अर्थ लगातार कई दोहों तक एक से अधिक पक्षों में पूरे उतरते हैं। इस प्रकार के पाँच उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं। पहले उदाहरण में दो दोहों की अठारह पंक्तियों में ऊपर से देखने पर चौपड़ के खेल का वर्णन जान पड़ता है, किंतु साथ ही प्रेम-पक्ष और योग-पक्ष में भी दोनों दोहों के अर्थ उन्हीं शब्दों से सटीक बैठते हैं। कवि की इस प्रकार की श्लेषात्मक शैली आश्चर्यकारिणी है। सरल अवधी के शब्दों में जायसी ने अर्थों का चमत्कार उत्पन्न किया है। उससे उनकी भाषा की असाधारण शक्ति ज्ञात होती है।

'किऔ जोग आएउ' कबिलासा'—इन सरल शब्दों में भी 'जोग' और 'कबिलासा' के तीन अर्थ उन-उन पक्षों में घटित होते हैं। प्रेम-पक्ष में जोग का अर्थ जोड़ा और कबिलासा का अर्थ राजमंदिर का वह विशेष भाग था, जहाँ सातवें खंड के ऊपर रनिवास में राजा-रानी रहते थे। जायसी ने कई बार इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया है। जैसे 'सात खंड ऊपर कबिलासू, तहँ सोवनारि सेज सुखवासू' (२९१।१); अथवा 'साजा राज मँदिर कबिलासू, सोनेकर सब पुहुमि अकासू'

(४८।१)। इन दो अवतरणों से ज्ञात होता है कि सतखंडे राजमहल के ऊपरी भाग में राज-रानी के निवास का निजी स्थान 'कबिलास' कहलाता था और उसी में 'सुखवासी' नामक गर्भगृह में सोने की सेज बिछी रहती थी। इस कमरे में ऊपर, नीचे और भीतों पर सुनहला काम बना रहता था। दिल्ली के किले में जो राजमहल है उसके ख्वाबगाह नामक हिस्से में इस प्रकार का सुनहला काम छत और दीवारों पर बना हुआ है। ज्ञात होता है कि इस प्रकार की रचना जायसी के समकालीन वास्तु का सत्य थी। शाही महलों में 'कबिलास' की कल्पना हिंदू स्थापत्य-कला से ली गई। उसकी परंपरा जायसी से भी कई सौ वर्ष पूर्व से चली आ रही थी। बीसलदेव रासो में भी राजमहल के विविध भागों का वर्णन करते हुए 'कबिलास' का उल्लेख आया है—"आसोजइ धण मंडिया आस। मंडिया मंदिर घर कबिलास। धउलिया चउबारा चउखंडी। गउख चडी हरषी फिरइ। जउ घर आविस्सइ मंध भरतार॥" (बीसलदेव रास, डा० माताप्रसाद संस्करण, छंद ७८)। विद्यापति ने 'कीर्त्तिलता' में महल का वर्णन करते हुए खुर्रमगाह का उल्लेख किया है, जो 'सुखवासी' का ही पर्याय है। इसे ही 'वर्णरत्नाकर' में 'षोरमपुर' कहा है।

इस प्रकार 'कबिलास' शब्द का एक विशिष्ट अर्थ जायसी की भाषा में आया है। उसकी परंपरा उससे पूर्वकालीन और उत्तरकालीन भाषाओं में थी। उसमान की 'चित्रावली' में भी यह शब्द इसी अर्थ में है। किंतु हिंदी कोशों में 'कबिलास' शब्द के इस अर्थ और इन उदाहरणों का सन्निवेश करना अभी बाकी है। इस दृष्टि से जायसी की भाषा का गौरव अति विशिष्ट जान पड़ता है, जिसके समुचित अध्ययन की आवश्यकता है। यहाँ प्रदर्शित कुछ उदाहरणों के समानांतर अर्थ इस विषय का संकेत करने के लिये पर्याप्त हैं।

दूसरा उदाहरण छाजन या छप्पर की शब्दावली को लेकर की हुई कविता है। छाजनि, तिनुवर, आगरि, सांठि, बात, बंध, कंध, बाक, टेक, थंभ, थूनी, नैन, कोरे—ये शब्द एक ओर छप्पर का सचित्र रूप खड़ा करते हैं, दूसरी ओर इन्हीं शब्दों के समानांतर अर्थ पद्मावती की दीन दशा पर भी लागू होते हैं। विशेष रूप से बात, बाक, नैन और कोरे शब्द ध्यान देने योग्य हैं। छाजन के अर्थ में 'बात' का अर्थ 'बत्ता' है। छप्पर के अगले सिरे पर सरकंडे के मुट्ठे बाँधे जाते हैं, उन्हें 'बत्ता' कहते हैं। आड़ी लगी हुई छोटी लकड़ियाँ या कैंची 'बाक' कहलाती है। पूरे अर्थात् बिना चिरे

हुए बाँस जिनसे टट्टर या ठाट बनाया जाता है, 'कोरे' कहलाते हैं। नैन शब्द का सीधा अर्थ नेत्र स्पष्ट है, किंतु छप्पर के पक्ष में धुआँ निकलने का छेद 'नैन' कहलाता है, जिसे पाली भाषा में 'धूमनेत्त' ( सं० धूम्रनेत्र ) कहते थे। इस प्रकार जायसी अपनी सरल शैली द्वारा भी हिंदी के शब्दों में अर्थ की गहराई ले आने में सफल होते हैं। 'बरसहिं नैन चुवहिं घर माहाँ'—एकदम सीधे-साधे शब्द हैं। साधारणतः छप्पर की ओली बाहर की ओर गिरती है, किंतु टूटे छप्पर में धमाले के रास्ते पानी घर के भीतर ही टपकता है, यही कवि का अभिप्राय है।

तीसरे उदाहरण में पक्षियों के विविध नामों से श्लेषात्मक शैली का विधान किया गया है, जिससे समानांतर अर्थों की प्रतीति होती है। 'कोइलि भई पुकारत रही, महरि पुकारि लेहु रे दही' (२५८।६)—इस सरल चौपाई के कोइलि और महरि, ये दोनों शब्द श्लेषात्मक अर्थ के चमत्कार से युक्त हैं। कोइलि का अर्थ कोयल तो विदित ही है, किंतु कोइलि आम की गुठली को भी कहते हैं जिसके भीतर की बिजुली को घिसकर बच्चे बजाने का पपैया बनाते हैं। यह अर्थ यहाँ एकदम ठीक बैठता है। महरि का सामान्य अर्थ ग्वालिन चिड़िया है, किंतु जायसी ने स्वयं ही ससुर के लिये 'महरा' शब्द प्रयुक्त किया है—'दसौं दाउ कै गा जु दसहरा, पलटा सोइ नाँउ लै महरा'[1] ( ४२४।३ ), अतएव महरि का अर्थ सास है।

चौथे उदाहरण में फूलों के नामों का आधार लेकर उसी प्रकार श्लिष्टार्थमयी भाषा का चमत्कार उत्पन्न किया गया है। 'हौं पिय कँवल सो कुंद नेवारी' (३७७।१)—इस पंक्ति में कमल, कुंद और निवारी प्रसिद्ध फूल हैं। साथ ही तीनों का दूसरा अर्थ भी चौकस बैठता है। कमल का अर्थ है पद्मिनी जाति की स्त्री। कुंद का अर्थ है खराद। जायसी ने खराद का काम करनेवाले के लिये 'कुंदेरा' कहा है। 'कुँदै फेरि जानु गिव काढ़ी' ( १११।२ ), अर्थात् ग्रीवा मानो खराद पर चढ़ाकर काढ़ी गई थी। 'कुंद नेवारी' का दूसरा अर्थ खराद पर बनाई हुई, अर्थात् कठपुतली है। 'सरना' और 'करना' जैसे सरल फूलवाची शब्दों के भी तीन-तीन अर्थ हैं, जिन्हें पाठक आगे देख

---

१—इस पंक्ति का अर्थ भी गूढ़ है। नागमती विलाप करती हुई कहती है—"जो रत्नसेन दशहरे के दिन सुरत के दशों दाँव चुंबनादि करके गया था, वह आज बड़ी सेना लेकर लौटा है।" 'नाँउ लै महरा' का शब्दार्थ है ससुर का नाम लेकर। रत्नसेन के पिता का नाम चित्रसेन था; उसी की ओर नागमती का संकेत है कि उसका पति विचित्र सेना के साथ लौटा है।

सकते हैं। सरना, करना बाजों के नाम थे, इसका पता आईन-अकबरी से लगता है, जो लगभग जायसी ही के समय का ग्रंथ है। 'बकचुन' एक पुरुष का नाम भी है, और उसका दूसरा अर्थ है वाक्य चुन-चुनकर। इन श्लेषात्मक अर्थों का ध्यान करते हुए पाठक को पचासों शब्द ऐसे मिलते हैं जो फारसी लिपि में लिखे जाने पर ही दो प्रकार से पढ़े जा सकते थे। यथा—बार, बारि; जोग, जुग; सार, सारि; पपिहा (एक पक्षी),पपहा (एक प्रकार का घुन); पलही, पलुही (पाला खाई हुई, पल्लवित हुई); जिया, ज्या ( डोरी ); जूही, जोही; पियरी, पियरे; आठ, आठि; नागमती, नागिमती ( नागी, नागिनी, नागमती; मती = मृता, मर गई ) इत्यादि। पदमावत की मूल लिपि का प्रश्न स्वतंत्र है, यहाँ केवल संकेत मात्र किया गया है।

पाँचवें उदाहरण में पद्मावती नागमती की वाटिका देखकर अपनी प्रतिक्रिया कहती है। प्रत्यक्ष में तो यह उसकी प्रशंसा है, किंतु दूसरा अर्थ सौत नागमती की वाटिका के लिये निंदापरक है। इसमें पाठक देखेंगे कि पलुही, पपिहा, महोख, बेरास, नागमती, फूल चुनइ, इन सरल शब्दों में भी कवि ने श्लेषात्मक अर्थ का कैसा चमत्कार रक्खा है। सचमुच इससे जायसी की असामान्य शक्ति का पता चलता है। 'रहसत आइ पपीहा मिला,' इस सरल पंक्ति का पहला अर्थ तो यह है कि रहसता हुआ पक्षी वाटिका में आ मिला। दूसरे अर्थ में 'पपिहा' को 'पपहा' ( एक प्रकार का घुन ) पढ़ना आवश्यक है। सत का अर्थ है सत्य और मींगी या सत। अर्थात् जब घुन लग गया हो तो सत कहाँ रह सकता है? 'महोख' शब्द भी द्व्यर्थक है—(१)महोख नामक पक्षी, (२) महोक्ष अर्थात् वृष जाति का पुरुष। 'सोआवा' और 'सोहावा' जैसे सरल शब्द भी द्व्यर्थक ही हैं-सोआवा= (१) वह आया, (२) पास में सुलाया; सुहावा=(१) सुंदर, (२) करहिं सो हावा=वह हाथों से हाव करती है अर्थात् श्रृंगार-चेष्टा करती है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि पद्मावत की जिस भाषा को हम गाँव की सरल अवधी मान लेते हैं, वह एक महाकवि की चमत्कारी भाषा है, जो अर्थ-संपत्ति और व्यंजना-शक्ति से भरी है। वस्तुतः जायसी के अर्थ-समूह और भाषा के नवीन अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है। अंततोगत्वा बृहज्जायसी कोश के निर्माण में इसका पूरा निखार होना चाहिए।

## १—चौपड़ का खेल

*[ पद्मावती–रतनसेन भेंट खंड, २७।३३, क्रमांक दोहा ३१२ ]*

ऐसें राजकुँवर नहि मानौं। खेलु सारि पाँसा तौ जानौं।१

कच्चे बारह बार फिराली। पक्के तौ फिरि थिर न रहासी।२
रहै न आठ अठारह भाखा। सोरह सतरह रहै सो राखा।३
सतएँ ढरैं सो खेलनिहारा। ढारु इग्यारह जासि न मारा।४
तूँ लीन्हे मन आछसि दुवा। औ जुग सारि चहसि पुनि छुवा।५
हौं नव नेह रचौं तोहिं पाहाँ। दसौं दाँउ तोरे हिय माहाँ।६
पुनि चौपर खेलौं कै हिया। जो तिरहेल रहै सो तिया।७

जेहि मिलि बिछुरन औ तपनि अंत तंत तेहि निंत।८
तेहि मिलि बिछुरन को सहै बरु बिनु मिलें निचिंत॥९[२]

## क—चौपड़परक अर्थ

१—हे राजकुँवर, मैं ऐसे नहीं मान सकती। मेरे साथ गोट और पाँसा (चौपड़) खेल तो जानूँ। (२) कच्चे बारह का दाँव आने से तू केवल बारह घर चल सकेगा। पक्के बारह पड़ गए तो फिर स्थिर न रहेगा (रुकेगा नहीं)। (३) तू आठ पर नहीं जमता; (आठ आने पर) अठारह कहता है। सोलह, सत्रह का दाँव पड़ जाय तो वह (खिलाड़ी को) बचाता है। (४) सात पाँसे पड़ें तो खेलनेवाला हारता है। ग्यारह का दाँव अगर तू ले तो गोट नहीं मर सकती। (५) पर मन में चाव रखकर भी तेरे पास केवल दुआ है और उतने से ही तू दो गोटें चलना चाहता है। (६) मैं तो तेरे लिये नौ का दाँव चाहती हूँ पर तेरे मन में दस का दाँव है। (७) फिर हिम्मत करके तेरे साथ चौपड़ खेलना चाहती हूँ। जो तीन बाजी खेले वही तीन-तीन का दाँव लेनेवाला (तिया) होगा।

---

२—पदमावत का मूल पाठ श्री डा० माताप्रसाद जी गुप्त द्वारा संपादित संशोधित संस्करण (हिंदुस्तानी एकेडमी, १९५२) के अनुसार रक्खा गया है। मेरी दृष्टि से यह संस्करण अत्यंत परिश्रमपूर्वक संपादित किया गया है। जो पाठक इस श्रेष्ठ संस्करण को दूसरे संस्करणों के साथ मिलाकर अर्थ का अनुसंधान करेंगे उन्हें ज्ञात होगा कि जायसी की भाषा और अर्थ का चमत्कार इस संस्करण में कितना अधिक सुरक्षित हुआ है। प्राचीन समय में ही प्रायः यह नियम सा बन गया था कि जहाँ अर्थ की कठिनता प्रतीत हो वहीं मूल पाठ बदलकर सरल कर दिया जाय। जायसी के अन्य संस्करणों में प्रायः यही बदला हुआ सरल पाठ हमें प्राप्त होता है।

( ८ ) जुग बाँधने के बाद जुग से फूटना दुःखकारक है। फिर खेल के अंत तक उसी की इच्छा बनी रहती है। ( ९ ) जुग बाँधकर बिछुड़ने से यह अच्छा है कि जुग मिलाया ही न जाय और प्रत्येक गोट निश्चिंतता से चली जाय।

चौपड़ के खेल का संक्षिप्त परिचय[३]—चौपड़ के खेल में तीन पाँसे और चार रंगों की सोलह 'गोटें' होती हैं। प्रत्येक पाँसा हाथीदाँत का बना चार-पाँच अंगुल लंबा चौपहल टुकड़ा होता है। उसके एक पहल में एक बिंदी ( इक्का ) और दूसरे में दो ( दुआ ) तीसरे में पाँच ( पंजा ) और चौथे पहल में छः (छक्का) बिंदियाँ होती हैं। ऐसे ही तीनों पाँसों पर बिंदियों के एक-से निशान होते हैं। तीनों पाँसों को हाथ में लेकर ढरकाते हैं। जो बिंदियाँ तीनों पाँसों के ऊपर के पहल में दिखाई पड़ती हैं उन्हीं का जोड़ दाँव कहलाता है। सबसे छोटा दाँव १+१+१=तीन ( बिंदियों का जोड़ ) है। इस दाँव को तीन काने भी कहते हैं। सबसे बड़ा दाँव ६+६+६, इस प्रकार अठारह है। तीन और अठारह के बीच में संभव दाँव इस प्रकार हैं—४ (१+१+२); ५ (१+२+२); ६ (२+२+२); ७ (१+१+५); ८ (१+२+५ और १+१+६); ९ (२+२+५ और १+२+६); १० (२+२+६); ११ (१+५+५); १२ (१+५+६, यह कच्चे बारह कहलाता है, इसमें एक गोटी केवल १२ घर चल सकती है); २+५+५ दूसरी प्रकार का १२ का दाँव है जिसमें जुग गोटें १० घर और २ घर चलती हैं; तीसरा पौ बारह दाँव ६+६+२ कहलाता है जिसमें जुग गोटें १२ घर और २ घर चलती हैं); १३ (२+६+५; १+६+६ जिसे ऊपर पौ बारह कहा जा चुका है); १४ (२+६+६); १५ (५+५+५); १६ (५+५+६); १७ (५+६+६); १८ (६+६+६)।

चौपड़ के कपड़े में चार 'फड़ें' होती हैं। प्रत्येक 'फड़' पर तीन पंक्तियों में 'घर' बने रहते हैं। प्रत्येक पंक्ति में आठ घर होते हैं। इस प्रकार एक फड़ में चौबीस और कुल चौपड़ में ९६ घर होते हैं। 'घर' को संस्कृत में 'पद' कहते हैं। चारों फड़ों के बीच में एक बड़ा घर होता है जिसे कोठा कहते हैं। इसी बीच के कोठे में चारों फड़ों की गोटें 'बैठती' या 'पुगती' हैं, तब उन्हें 'पक्की गोटें' कहा जाता है।

---

३—उपर्युक्त तथा अगले दोहे को समझने के लिये चौपड़ के खेल का ज्ञान आवश्यक है। मुझे स्वयं पहले इस खेल का ज्ञान न था। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त की कृपा से मुझे इस खेल का परिचय मिला और तब अर्थ को समझने में आसानी हुई। —लेखक

चार रंग की सोलह गोटों में प्रत्येक रंग की चार-चार गोटें होती हैं। काली-पीली गोटों का जोड़ा और लाल-हरी गोटों का जोड़ा प्रायः माना जाता है। जब चार व्यक्ति खेलते हैं, तो काली-पीली वाले आमने-सामने बैठते हैं और एक दूसरे के 'गुइयाँ' होते हैं। इसी प्रकार लाल-हरी गोटों के भी। गुइयाँ एक दूसरे की गोटें नहीं मारते बल्कि एक की चार गोटें पहले पुग जाने पर गुइयाँ अपना दाँव साथी को दे देता है, तब वे 'दुपाँसिया' अर्थात् दोनों पाँसों का साझा करके खेलनेवाले कहे जाते हैं।

चौपड़ का खेल दो प्रकार का है—सादा, जिसमें चार व्यक्ति खेलते हैं, और रंगबाजी—जिसमें दो व्यक्ति, प्रायः स्त्री और पुरुष खेलते हैं। रंगबाजी का खेल कठिन है और उसमें प्रतिबंध अधिक हैं। जायसी ने यहाँ रंगबाजी के खेल का ही वर्णन किया है।

टिप्पणी—( १ ) सारि=गोट, सं० शारि। पाँसा=सं० पाशक, हाथीदाँत के बिंदीदार चौपहल शकरपारेनुमा लंबे तीन टुकड़े।

( २ ) कच्चे बारह=६+५+१। इस दाँव में एक गोट केवल बारह घर चलती है। पक्के बारह=५+५+२। इसमें दो गोटें एक साथ दस घर और फिर दो घर चलती हैं।

( ३ ) रहै न आठ अटारह भाखा—चौपड़ के खिलाड़ियों के विषय में प्रसिद्ध है 'चौपड़ के चार लबार'। खिलाड़ी 'चार बुलाए चौदह आए' कहकर पाँच के दाँव को पंद्रह और आठ को अठारह कहकर झूठ बोलते हैं। उसी पर जायसी का कथन है कि आठ तो आवें नहीं कहे अठारह। सोरह सतरह=ऊपर दिए हुए ब्यौरे के अनुसार ये दोनों बड़े दाँव हैं; जब पड़ते हैं तब खिलाड़ी की रक्षा करते हैं।

( ४ ) सतएँ ढरें=चौपड़ के खिलाड़ी सात ( १ + १ + ५ ) के दाँव को अशुभ मानते हैं। कहा है—हारी बाजी जानिए परे पाँच दो सात। और भी—सत्ता सार न ऊपजे, वेश्या होय न राँड़ ( अर्थात् सात के पाँसे से कुछ काम नहीं बनता )। खेलनिहारा=खेलने में हार गया। इग्यारह=५ + ५ + १ का दाँव। इसमें जुग गोट दस घर चलेगी। जासि न मारा=रंगबाजी के खेल में जुग गोटें ( एक घर में एक साथ रखी हुई दो गोटें जुग कहलाती हैं और साथ चली जाती हैं ) नहीं मारी जा सकतीं और उनके घर में अन्य गोट नहीं घुस सकती।

( ५ ) दुवा=वह दाँव जिसमें तीनों पाँसों की दो बिंदियाँ ऊपर-ऊपर रहें २+२+२। इस दाँव से दो गोटें केवल दो घर चल सकती हैं। जायसी का कथन है कि दुवा जैसा कम पाँसा पड़ने पर जुग गोटों के चलने का विशेष महत्त्व नहीं।

जुगसारि=दो गोटें, जिन्हें केवल 'जुग' भी कहते हैं। ये एक घर में बैठतीं, एक साथ उठतीं और एक साथ पकती हैं और मौका पड़ने पर एक साथ ही फिर कच्ची होती हैं। जुग बाँधकर खेलने से खिलाड़ी के मन में बड़ा उत्साह होता है। जुग का साथ पकना अच्छा माना जाता है। जुग-गोट कभी पिट नहीं सकती। कभी-कभी जुग को अलग करना पड़ता है तो खिलाड़ी दुःख मानता है। कहा है 'कहै बैजू बावरे सुनो हो मियाँ तानसेन जुग सैं फूटी तो कैसे बचैगी नरद।' इसके विपरीत यह भी कहा है—'दो जुग बाँधे होय बिनास', क्योंकि उसमें खिलाड़ी अधिक बंधन में पड़ जाता है; अथवा 'जुग लटै तो काज सरै।'

( ६ ) नव नेह=नौ के दाँव का प्रेम ( ५+२+२ अथवा ६+२+१ )। दसौं दाँवँ=६+२+२ का दाँव।

( ७ ) पुनि चौपर खेलो=एक बार हार जाने पर भी फिर हिम्मत करके खेलती हूँ। तिरहेल=तीन बाजी।

सो तिया=जो तीन बाजी खेलेगा वह तीन-तीन का दाँव जीतेगा। तीनों पाँसों का एक ही प्रकार से पड़ना तिया ( सं० त्रिक ) कहलाता है। जैसे १+१+१; २+२+२; ५+५+५; ६+६+६। इन चार दाँवों में जुग क्रमशः २,४,१० और १२ घर चलती है और यदि तीसरी गोट भी उसी घर में साथ हो तो वह भी जुग के साथ चलती है। जायसी का तात्पर्य है कि जो हारने पर भी इतनी हिम्मत रक्खे कि तीन बाजी तक खेलता रहे, कभी न कभी उसके पक्ष में भी तिया दाँव पड़ेगा और वह खेल जीतेगा।

(८–९) जुग बाँधने के बाद जुग के फूटने से खिलाड़ी को दुःख होता है और अंत तक जुग बाँधने की लालसा बनी रहती है। मिलकर बिछुड़ने से कुछ खिलाड़ियों की राय में यह अच्छा है कि प्रत्येक गोट को अकेले ही निर्द्वंद्व चला जाय।

## ख—अध्यात्मपरक अर्थ

( १ ) हे राजकुँवर, मैं ऐसे नहीं स्वीकार करूँगी। यदि तू जोग के मार्ग में चले ( खेलु ) तब मैं यह जानूँगी कि तुझमें कुछ सार है या तू निस्सार है।

( २ ) साधना में तू कच्चा रहेगा तो दुवार-दुवार भटकेगा। पर यदि पक्का होगा तो तू उस मार्ग में टिक न रहेगा। ( ३ ) जोगी के लिये उचित आठ ( चक्रों ) में तू मन को नहीं लगाता, अठारह की चिंता करता है। सोलह का सत किस प्रकार रहता है? उसके यहाँ रहता है जो उसकी रक्षा करता है। ( ४ ) जो जोगी सत से ढुलक गया वह अपने जोग-मार्ग में ( खेलनि ) हार गया। यदि दस इंद्रियों और ग्यारहवें मन को साध लिया तो जोगी मृत्यु के वश में नहीं होता। ( ५ ) तेरे मन में तो अभी द्वैत भरा है ( मन एकाग्र नहीं हुआ ) फिर भी ( अनवस्थित मन से ) तू दो सार वस्तुओं को छूना चहता है ( प्राण और शुक्र को वश में करना चहता है )। ( ६ ) मैं तेरे मन में नवों चक्रों के लिये प्रेम उत्पन्न करना चाहती हूँ पर तेरे मन में दसों इंद्रिय-द्वारों के लिये आसक्ति भरी है। ( ७ ) फिर तू हिम्मत करके उन्मुक्त भाव से जोग धारण कर। जो इडा-पिंगला-सुषुम्णा का खेल जानता है, वही त्रिक साधना में पूरा है।

( १ ) टिप्पणी—(१) सारि (फारसी लिपि में सार भी पढ़ा जायगा)=तत्त्व, बल, सत।

पाँसा=पाँस या खाद की तरह निस्सार, कूड़ा। खेलु, धा० खेलना=जोग के मार्ग में गमन कर। जायसी ने इस अर्थ में बहुधा इसका प्रयोग किया है।

( २ ) कच्चे-पक्के=जोग के मार्ग में अनुभवहीन और अनुभवी साधक।

( ३ ) आठ=अष्ट चक्र, गोरखनाथ के योग में चक्र-साधना मुख्य थी।

अठारह=दुनिया का धंधा, जैसा शंकराचार्य ने लिखा है—का तेऽष्टादशदेशे चिंता। वातुल किं तव नास्ति नियंता। ( द्वादश पंजरिका स्तोत्र ११ )

सोरह—पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, एक मन।

( ४ ) सतएँ ढरै—जो सत में निर्बल हुआ वह जोग के मार्ग में हार जाता है। इग्यारह= दस इंद्रियाँ और एक मन।

( ५ ) दुआ=द्वैत भाव, एकाग्रता का उल्टा, संसार में भी आसक्ति, आत्मतत्त्व के साथ तल्लीनता का अभाव।

जुगसारि—गोरखनाथ के उपदिष्ट मार्ग के अनुसार साधना में तीन वस्तुएँ परम शक्तिशाली और सार हैं, उनकी साधना से ही योगसिद्धि मिलती है। वे हैं मन, वायु या प्राण और बिंदु या शुक्र। यदि एक को वश में कर लिया जाय तो अन्य दो भी स्थिर हो जाते हैं (श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'नाथ-संप्रदाय'

पृ० १२४)। जायसी का आशय है कि अभी तक तेरा मन एकाग्र नहीं हुआ और तू प्राण और रेत को वश में करना चहता है।

( ६ ) नव—नव चक्र।

दसौं दाउं—दस इंद्रिय-द्वार।

( ७ ) चौपर—चतुष्पट्ट, चारों किवाड़ उघड़े हुए; बिल्कुल फक्कड़ बनकर खेलो, अर्थात् जोग के पथ पर चलो।

तिरहेल—इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा की साधना जोग-मार्ग में तिरहेल ( गोरख-धंधा है ) है। जो इसमें पूरा है वही त्रिक में सिद्ध है।

( ८–९ ) निर्गुण-संप्रदाय में बहुतों का मत ऐसा था कि प्रेम का मार्ग अच्छा नहीं, जिसमें प्रियतम से मिलन और फिर वियोग सहना पड़ता है। इससे तो यह अच्छा कि कभी प्रिय का मेल ही न हो। पर प्रेम-मार्गी मत इससे उल्टा है।

## ग—प्रेमपरक अर्थ

( १ ) हे राजकुँवर, मैं यों नहीं मान सकती। मेरी चितरसारी में साथ क्रीड़ा करो, तो जानूँगी ( अथवा क्रीड़ा करो तो जानूँगी कि तुममें शक्ति है या खाद की तरह निस्सार हो )। ( २ ) यदि तुम कच्चे होगे तो दुवार पर ही घूमते रहोगे ( मेरे शयनगृह में प्रवेश न पा सकोगे )। यदि पक्के ( कामकला में चतुर ) होगे तो फिर मन को स्थिर न रख सकोगे। ( ३ ) आठ नहीं रहते, तुम 'अट्ठारह' की बात करते हो। सोलह शृंगारों के सामने कौन सत से रह सकता है? वही रहता है जिसे भगवान् रखता है। अथवा, सोलह सुरतों के सम्मुख जिसके सत्रह का समूह (पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन, प्राण ) रह जाय, वही यथार्थ रक्षक है। ( ४ ) जिसका सत आलिंगन में ढरता या स्खलित होता है, वही काम-केलि का जाननेवाला है। दस इँद्रियाँ और एक मन, ग्यारह को तुम केलि में ढालोगे तो मृत्यु-दुःख को प्राप्त न होगे। ( ५ ) तुम्हारे मन में यदि कोई दूसरी बसी है तो जुग गोटियों के सदृश मेरे स्तनों को नहीं छू सकते। ( ६ )मैं तो तेरे साथ नया प्रेम रचती हूँ, पर तेरे मन में मेरे प्रति दस दाँव हैं। (७) फिर मन करके तेरे साथ चौपड़ ( चार प्रकार की सुरत-केलि ) खेलती हूँ। जो तीन प्रकार की केशाकर्षण रूप क्रीड़ा में पूरी उतरती है, वही स्त्री है।

( ८ ) जिस प्रिय के साथ मिलने के बाद वियोग और दुःख मिलता है,

फिर भी उसी की अंत तक अभिलाषा बनी रहती है उससे मिलकर वियोग का कष्ट कौन सहे ? बिना मिले ही निश्चिंत रहना अच्छा है।

टिप्पणी—( १ ) खेलु=क्रीड़ा करो। सारि=चित्तरसारी। पांसा=पास में।

( २ ) कच्चे=कामक्रीड़ा में अथवा वय में अपरिपक्क।

बारह बार (फारसी लिपि में बारहि बार भी पढ़ा जायगा)=दरवाजे पर ही, चित्तरसारी से बाहर।

पक्के=रस में परिपक्क।

( ३ ) रहे न आठ अठारह भाखा। ( १ ) जब आठ वर्ष की आयु (बालपन) नहीं रही तो अठारह ( यौवन ) के रहने की क्या बात कहते हो ? ( २ ) आठ∠सं० अर्थ, प्रा० अट्ठ, कामना, इंद्रियार्थ, विषय; फल, लाभ। काम-क्रीड़ा करने पर रति-अभिलाषा नहीं रह जाती, फिर भी कहते हो इच्छा ( आठि∠अट्ठा ∠आस्था ) रह गई। ( ३ ) अथवा, अष्टवर्षा के साथ नहीं रहता, अठारह वर्ष की चाहता है। ( ४ ) अथवा, नायक आयु में आठ वर्ष का भी न हो पर अठारह वर्ष की युवती की चर्चा करता है। अथवा अठारह तरह की भाषाएँ बोलता (भाँति-भाँति की बातें बनाता) है। [ मध्यकाल में अठारह तरह की भाषाओं की मान्यता थी; देखिए 'कुवलयमाला कहा' से उद्धृत, अपभ्रंश-काव्यत्रयी, भूमिका पृ० ९१ ]

सोरह—वर्णरत्नाकर के अनुसार सोलह प्रकार का उत्तान सुरत ( वर्ण०, पृ०२९ ) अथवा जायसी के अनुसार सोलह प्रकार का शृंगार ( २९६।८; ३००।१ अस बारह सोरह धनि साजै; ४६७।१-९; रामचरितमानस, बाल० ३२२।१० नव सत्त साजें सुंदरीं; उसमान कृत चित्रावली, बारह सोलह साज बनाए, ४०३।२ )।

सतरह—सत रहना। षोडश शृंगारवती नायिका के सान्निध्य में जो कोई सत रख सके वही पूरा है। अथवा सतरह=पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन, प्राण।

( ४ ) सतएं—सात प्रकार के कठिनालिंगन में ( वृक्षारूढ़, लतावेष्टित, जघनोपरिगूढ़, तिलतंडुल, क्षीण, नीवला, नाटिका, वर्ण०, पृ० २८); ( २ ) सत में या बल में।

ढारु इग्यारह—दस इंद्रियाँ और एक मन, इन ग्यारह के वशीभूत हो इन्हें विषय के साँचे में ढाल। इस प्रकार तू मृत्यु के वशीभूत न होगा। यह उन लोगों का मत था जो कौल साधना के अनुसार पंच मकार से सिद्धि मानते थे।

( ५ ) दुवा—दूसरी स्त्री, या द्वैतभाव । जुगसारि=जुग गोटों की भाँति के युगस्तन । जायसी ने अन्यत्र भी स्तनों की उपमा गोटों से दी है ( कुच कंचुक जानहुँ जुगसारी, ३८।६ ) ।

( ६ ) नवनेह—मुग्धा नवोढ़ा का स्नेह; उसमें पति-पत्नी के बीच लज्जा का भाव रहता है ।

दसौं दाँउ—पाँच प्रकार के नखक्षत ( अर्धचंद्र, मंडल, मयूरपद, दशप्लुत, उत्पलपत्र ), और पाँच प्रकार के दशनक्षत ( तिलक, प्रवाल, बिंदुक, खंडाभ्र, कोल, वर्ण०, पृ० २९ ), ये मिलाकर नायिका के शरीर पर नायक द्वारा होनेवाले दस दाँव हैं । पद्मावती का आशय यह है कि मैंने तो मुग्धा नवोढ़ा की भाँति तुमसे नया प्रेम किया है पर तू ढीठ नायक की भाँति प्रौढ़ रति के दस दाँव करता है । अथवा नयन, कंठ, कपोल, अधर, स्तन, ललाट, जघन, नाभि, कक्षा, इन दस स्थानों में चुंबन भी धृष्ट केलि के दाँव हैं ( वर्णरत्नाकर, पृ० २८ ) । जायसी ने ४२४।३ में भी दसौं दाँउ का उल्लेख किया है ।

( ७ ) चौपर-पद्मासन, नागरकरेणु, विदारित, स्कंधपाद नामक चार प्रकार का सामान्य सुरत ( वर्णरत्नाकर पृ० २९ ) । चौपर खेलौं—नायक-नायिका का परस्पर विगताकांक्ष होना । जायसी से दो शती पूर्व वर्णरत्नाकर में सुरत का जो आदर्श वर्णन किया गया था उसी ज्ञान को जायसी ने संख्याओं के संकेत देकर रख लिया है ।

तिरहेल=तीन प्रकार की केशाकर्षण-क्रीडा ( समहस्त, भुजंगवलि, कामावतंस, वर्ण० पृ० २९ ) ।

( ८ ) तंत=इच्छा, प्रबल कामना, वश, अधीनता ।

*[ पद्मावती-रत्नसेन भेंट खंड २७।२४, क्रमांक दोहा ३१३ ]*

बोलौं बचन नारि सुनु साँचा । पुरुख क बोल सपत औ बाचा ।१
यह मन तोहि अस लावा नारी । दिन तोहि पास और निसि सारी ।२
पौ परि बारह बार मनावौं । सिर सौं खेलि पैंत जिउ लावौं ।३
मारि सारि सहि हौं अस राँचा । तेहि बिच कोठा बोल न बाँचा ।४
पाकि गहे पै आस करीता । हौं जीतेहुँ हारा तुम्ह जीता ।५
मिलि कै जुग नहिं होउँ निनारा । कहाँ बीच दुतिया देनिहारा ।६
अब जिउ जरम जरम तोहि पासा । किएउँ जोग आएउँ कबिलासा ।७

आकर जीउ बसै जेहि सेतें तेहि पुनि ताकरि टेक।८
कनक सोहाग न बिछुरै अवटि मिलै जौ एक॥९

## क—चौपड़परक अर्थ

(१) रत्नसेन—हे बाला, मैं सच बात कहता हूँ, सुनो। पुरुष का मुँह से कह देना ही शपथ और तिरबाचा के बराबर है। (२) यह मन तुममें ऐसा लगा है कि दिन भर तेरे साथ पाँसा फेकूँ और रात भर गोटी चलूँ। (३) हे बाला, मैं यह मनाता हूँ कि पौ बारह दाँव पड़े। एक सिरे से खेल शुरू करके अंत के घर तक पहुँचने की मेरी इच्छा है। (४) गोटों की मार सहकर मैं ऐसा रंक हो गया हूँ कि बीच के बड़े कोठे का मेरे पास कोई दाँव नहीं रह गया। (५) कुछ गोटों के पक्की हो जाने पर भी, हाथ में पाँसा लेकर (दूसरी गोटों के लिये) दाँव की आशा करता हूँ, और यदि ठीक दाँव न आया तो पक्की गोटों के कच्ची हो जाने से मैं जीता हुआ भी बाजी हार जाता हूँ और तब तुम जीत जाती हो। (६) गोटों का मिला हुआ जुग कभी अलग न हो। यदि कोई दुवा-तीया दाँव का खिलाड़ी हो तो जुग गोटों में अंतर कहाँ पड़ सकता है। (७) अब तो जन्म-जन्म तेरे साथ पासा खेलने का मन है। मैंने कैलास पर (अंतिम कोठे में) पहुँचकर अपना जुग बाँध लिया है।

(८) जिसका जी जिस वस्तु में रहता है उसे उसी का सहारा होता है (९) सोना और सुहागा औंट कर एक हो जायँ तो अलग नहीं होते।

टिप्पणी—(१) सपत=शपथ। बाचा=तीन वचन भरकर, तिरबाचा द्वारा किसी बात को पक्के रूप में कहना। (२) पास और सारी=पाँसा और गोट।

(३) पौ परि बारह=पौ बारह, अर्थात् ६ + ६ + १ का दाँव। चौपड़ के खेल में यह बहुत अच्छा दाँव समझा जाता है।

सिर=खेल के आरंभ में जहाँ गोटें रक्खी जाती हैं।

पैंत—सं० पद + अन्त > पयन्त > पइँत > पैंत। अंत का पद या घर। एक सिरे से शुरू करके अंतिम घर तक गोटों को पहुँचा दूँ।

(४) मारि सारि सहि—गोट की मार सहने से खिलाड़ी हीन (रंच=स्वल्प, हीन, रंक) हो जाता है।

कोठा=सबसे बड़ा बीच का घर जहाँ जाकर गोटें पकती हैं, चौपड़ की भाषा में कोठा कहा जाता है। उसे ही सातवीं पंक्ति में 'कबिलासा' कहा है।

बोल न बाँचा=बीच के कोठे में जाने का कोई दाँव नहीं बचा।

(५) पाकि गहे पै आस करीता=रंगीन बाजी के खेल के कई कड़े नियमों में एक यह है कि एक रंग की गोटें जब तक पककर उठ नहीं जातीं तब तक दूसरे रंग की गोटें कोठे में प्रवेश नहीं पा सकतीं। कभी-कभी इस प्रतिबंध के कारण ठीक पाँसा न आने पर पूरी पकी गोटों को कच्ची करके घर से बाहर कर देना पड़ता है। मान लीजिए एक खिलाड़ी की दो लाल गोटें पकी होकर बीच के कोठे में पहुँच गई हैं। उसकी दूसरी दो लाल गोटें घर चलती हुई बीच के कोठे के निकट आ पहुँची हैं। उनके पकने के लिये पाँसे में उतने ही अंक आने चाहिएँ जितने घर गोटों को चलना शेष है। अधिक आ जाने से पक्की गोटें भी कच्ची कर दी जाती हैं। इससे खिलाड़ी को बड़ा धक्का लगता है और जीती हुई बाजी भी वह एक प्रकार से हार जाता है। जायसी का इसी की ओर संकेत है।

(६) जुग=एक रंग की दो गोटों का एक साथ एक घर में बैठना, साथ चलना और पुगना। जुग कभी मारा नहीं जाता। खिलाड़ी चाहे तो स्वयं अपने जुग को अलग कर सकता है। पर अच्छा खेल वह है जिसमें जुग बँधने पर फूटे नहीं। कहाँ बीच दुतिया देनिहारा—जुग कहाँ अलग होगा, यदि दूवा और तीया दाँव फेंकनेवाला कोई है? दूवा वह दाँव है जिसमें दो पाँसे एक-से पड़ें, जैसे ५+५+१; ६+६+१। ये बढ़िया दाँव हैं, मानो जुग के लिये ही बने हैं। इनमें जुग पूरे १० या १२ घर चलती है। इनसे भी बढ़िया तीया दाँव हैं जिनमें तीनों पाँसे एक-से पड़ते हैं, जैसे ५+५+५, ६+६+६। इन बड़े दाँवों में यदि जुग के घर में एक गोट और बैठी हो तो वह भी जुग के साथ १० या १२ घर चल सकती है। चौपड़ में जुग स्त्री-पुरुष का रूप है; तीसरी गोट उनकी सखी है जो यदि जुग के साथ है तो साथ ही जाती है।

(७) जोग=अध्यात्म-पक्ष में योग, प्रेम-पक्ष में जोड़ा, और चौपड़-पक्ष में जुग। फारसी लिपि में जोग को जुग भी पढ़ा जा सकता है।

## ख—प्रेमपरक अर्थ

(१) हे बाला, मैं सच कहता हूँ, तू सुन। पुरुष के बोल से ही स्त्री पतिवती और वचनबद्ध होती है। (२) यह मन तुझमें ऐसा अनुरक्त है कि दिन में तेरे पास है और सारी रात भी पास रहना चाहता है। (३) पाँव पड़कर बार-बार तुझे मनाता हूँ। सिर से खेलकर (चुंबनादि केलि करके रत के लिये) तेरे पैरों में पड़ता हूँ। (४) हे सखि, मैं तेरे साथ मदन-गृह में ऐसा रम गया हूँ कि सभामंडप में

( राजकाज के संबंध में ) निर्णय या मंत्र के लिये नहीं पहुँच पाता। (५) आयु में पक जाने से मेरा शरीर गह गया है, पर भोगों की आशा बनी है। मैं सब प्रकार भोगों में जीतता रहा, पर अब हार गया हूँ। तुम अब भी जीतती हो। (६) तुम्हारे साथ जोड़ा बनाकर अब मैं अलग नहीं होना चाहता। हम दोनों के बीच में द्वैतभाव लानेवाला कौन है ? (७) अब जन्म-पर्यंत मन तेरे वश में है। मैं तो तेरे साथ जोग मिलाने के लिये ही यहाँ कैलास ( राजभवन ) में आया था।

(८) जिसका मन जिसके पास रहता है उसी के साथ उसकी ग्रंथि लगी रहती है। (९) कंचन ( पद्मावती ) अपने सौभाग्य ( रत्नसेन ) से वियुक्त नहीं हो सकता, जब दोनों अभिलाषापूर्वक ( लिपटकर ) मिले हैं।

टिप्पणी ( प्रेमपत्र )—( १ ) पुरुख क बोल—पुरुष की वाग्दत्ता होकर। सपत=पतियुक्त, पतिवाली। बाचा=विवाह में पति के साथ वचनबद्ध होनेवाली; अथवा तिरबाचा करके पिता द्वारा प्रदत्त।

( ३ ) पौ=पैर। सं० पाद > पाव > पाउ > पौ। सिर सौं खेलि=केशाकर्षण, चुंबन, दशनविन्यास, नखविन्यास, ये चार क्रीड़ाएँ उर्ध्व भाग में होती हैं। पैत=सं० पादान्त > पयंत > पइंत > पैंत। ऊर्ध्व भाग में क्रीड़ा करके अधोभाग में मन लगाता हूँ।

( ४ ) मारि सारि—फारसी लिपि में लिखा हुआ मार सार भी पढ़ा जायगा। मार=कामदेव; सार = शाला। मारसार = रति-गृह, शयन-गृह, चित्तरसारी। सहि = सखि। रांचा = अनुरक्त। सं० रक्त > प्रा० > रच > राचना = आसक्त होना, अनुराग करना ( पाइअसद्दमहण्णव, पृ० ८७३ )।

बिच कोठा—राजमहल में बीच का प्रधान भवन, सभामंडप, आस्थान मंडप, दरबार-आम, जहाँ बैठकर राजा राजकार्य करते थे। (राजप्रासाद और सभा-मंडप के सचित्र वर्णन के लिये देखिए, हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २०५ )। रत्नसेन कहता है कि मैं तेरे साथ अंतःपुर में ही ऐसा रम गया हूँ कि बाहर सभाभवन में व्यवहार निर्णय आदि के लिये भी नहीं जा पाता। बोल = व्यवहारासन से दिया हुआ राजा का निर्णय, फैसला। बांचा = जाना, पहुँचाना। सं० व्रज् ( जाना ) > प्रा० वच्च, वच्चइ ( पासद्द० पृ० ९१६ ) > बांचना।

( ५ ) पाकि = आयु पककर। गहे = गह जाने पर। गहना = ग्रहण लग जाना, शक्ति क्षीण हो जाना।

( ६ ) जुग—जोड़ा । मिलिकै जुग = तुम्हारे साथ विवाह-बंधन में बँधकर। निनारा = अलग, न्यारा। सं० निर्नगर ( नगर से निर्गत, पृथक्, बाहर ) > प्रा० णिण्णार ( पासद्द० पृ० ४५२ ) > निनार + क > निनारा ( तु०, सं० निष्कारयति > प्रा० णिक्कारइ ( दूर करना, निकालना, पासद्द० पृ० ४८५ ) > निकारइ निकारना, निआरा ) ।

( ७ ) जोग = १. योग ( अध्यात्मपक्ष ); २. जोड़ा, विवाह ( प्रेमपक्ष ); ३. जुगगोट ( चौपड़ पक्ष ) । कबिलासा = मध्यकालीन स्थापत्य का पारिभाषिक शब्द, महल का वह ऊपरी कमरा जहाँ राजा-रानी सोते थे ( यथा, सात खंड ऊपर कबिलासू। तहं सोवनारि सेज सुखबासू॥ २९१।१; साजा राज मंदिर कविलासू। सोने कर सब पुहुमि अकासू॥ ४८।१ ) । मानसार के अनुसार त्रिभूमिक प्रासाद या तीन खंड के महल की 'कैलास' संज्ञा थी । गुप्त-काल से हर्ष-काल तक प्रायः मंदिर और महल तीन खंड के ही बनते थे । वहीं से राजभवन के लिये 'कैलास' का प्रयोग आरंभ हुआ जो मध्यकाल में रूढ हो गया ।

( ९ ) अवटि = १. अभिलाषा करके। सं० आवर्तन > प्रा० आउट्टण (आराधन, सेवा, भक्ति, अभिलाषा, इच्छा ) । २. परस्पर मिलकर सं० आवृत् > प्रा० आउट्ट ( संमुख होना ) > अवटि । देशी-नाममाला के अनुसार आवट्टिआ ( नवोढा, दुलहिन, ) > आउट्टी > अउटी, अवटी ।

ग – योगपरक अर्थ

( १ ) हे नाड़ी ( सुषुम्णा ), मैं सच्ची बात कहता हूँ, सुनो । आत्मपुरुष के साथ नाद में लीन होने से ही तुम्हें प्रतिष्ठा ( पत ) प्राप्त होगी और तुम बच सकोगी। ( २ ) यह मन तुममें ऐसा लगा हुआ है कि दिन और रात तेरा ही स्मरण करता है। ( ३ ) मैं बार-बार यही मनाता हूँ कि मेरे भीतर कुछ उजाला हो। योग के मार्ग में सिर देकर गुरु-चरणों में मन लगाता हूँ। ( ४ ) सार ( प्राण, मन, बिंदु ) को मारकर सुरति ( सखी ) में ऐसा लीन हो गया हूँ कि हृदय में अनहद नाद सुन रहा हूँ ( अन्य शब्द नहीं रह गया है ) । ( ५ ) वायु और बिंदु के सिद्ध होने पर भी ( मन के ) एकाग्र न होने के कारण ( विषयों की ) आशा करता हूँ। मैं जोग-मार्ग पर चलकर ( प्राण शुक्र को जीत लेने पर ) भी हारा हुआ ही रहा। अपने मार्ग में रहकर तुम ही जीतीं। ( ६ ) हे सुषुम्णा, तुमसे मिलकर मैं अलग नहीं हूँगा। दोनों को पृथक् करनेवाला कौन है ? ( ७ ) अब जन्म-पर्यन्त जी तेरे

ही पास रहेगा। मैंने जोग लिया और अब मैं कैलास पर ( शिव के सान्निध्य में ) आ गया हूँ।

( ८ ) जिसका जी जिसके साथ रहता है उसको उसी का आग्रह होता है। ब्रह्मांड-स्थित बिंदु और मूलाधार में स्थित बिंदु यदि ऊर्ध्वपातन से एक हो गए हों, तो वियुक्त नहीं होते।

टिप्पणी ( योग-पक्ष )—( १ ) नारि=नाड़ी, सुषुम्णा जो योग की तीन नाड़ियों में मुख्य है। इड़ा ( बाँई नाड़ी, गंगा, चंद्रमा, शीत प्रकृति ) और पिंगला ( दाहिनी नाड़ी, यमुना, सूर्य, उष्ण प्रकृति ) दो अन्य नाड़ियाँ हैं।

पुरुख=आत्मा। आत्मा या शिवतत्त्व के साथ मिलने से ही सुषुम्णा नाड़ी सफल है।

पत=प्रतिष्ठा, विश्वास। सं० प्रत्यय > प्रा० पत्तिअ > पत्त > पत, अथवा फारसी लिपि में पति भी पढ़ा जा सकता है। तथा सं० प्राप्ति > प्रा० पत्ति ( पासद्द० पृ० ६५६ ) > पत ( =लाभ )। शिव से मिलकर ही सुषुम्णा या कुंडलिनी का सच्चा लाभ और रक्षा है।

( २ ) दिन तोहि पास और निसि सारी—इसका सामान्य अर्थ ऊपर दिया है। और भी, दिन अर्थात् सूर्य या पिंगला एवं निशि अर्थात् चंद्रमा या इड़ा तेरे पास हैं।

( ३ ) पौ=उजाला, ज्योति, प्रकाश। सं० प्रभा। हठयोगी कल्पना करते हैं कि इस देहरूपी दीपक में ज्ञान की बत्ती की लौ प्रकाशित हो, अथवा ज्ञान के सूर्य का उजाला हो, अथवा ज्ञानरूपी चंद्रमा की चाँदनी खिले ( डा० बड़थ्वाल, निर्गुण स्कूल ऑव हिंदी पोइट्री, पृ० २७०–२७१ )। सिर सौं खेलि=योग - मार्ग में सिर अर्पित करके, मृत्यु - भय से ऊपर उठकर , जैसा जायसी ने बहुधा कहा है। अथवा कपाली या शीर्षासन करके, सिर के बल खड़े होकर। पैत=गुरु के चरणों में।

( ४ ) मारि सारि—फारसी लिपि में सार भी पढ़ा जायगा। हठ-योग में मन, प्राण, रेत की सिद्धि या पूर्ण वशीकरण आवश्यक है। वे ही सार वस्तु हैं ( ३१२।५ )।

सहि=सं० सखी। हठयोग की प्रतीक भाषा में सुरति को सखी कहते हैं ( डा० बड़थ्वाल, वही, पृ० २७२ )।

कोठा=शरीर के मध्य में हृदय-गुहा वह कोठा है जिसमें अनहद नाद सुना जाता है।

बोल न काँचा=बाहरी शब्द नहीं रह जाता, भीतरी शब्द सुनाई पड़ने लगता है।

( ५ ) पाकि गहे=मन एक बार सिद्ध हो जाने पर जब पुनः योगभ्रष्ट होता ( गह जाता ) है, तब योगी जीतकर भी मानो हार जाता है। यहाँ जायसी हठयोग की आलोचना कर रहे हैं। उसकी कठिन साधना के पचड़े में पड़कर पुनः स्खलित होने का भय रहता है। 'तुम्ह जीता' से तात्पर्य पद्मावती के प्रेममार्ग की अंतिम विजय से है।

( ६ ) इस पंक्ति में उस साधक की अच्युत स्थिति का उल्लेख है जो सुषुम्णा से मिलकर फिर स्खलित नहीं होता। उसके मन में दुवैतभाव (एकाग्रता में दुवैधीभाव) लानेवाला कौन है? अथवा जुग ( इड़ा-पिंगला ) से मिलकर वियुक्त न हूँगा।

( ७ ) किएउं जोग आएउं कबिलासा—कैलास आज्ञा-चक्र का नाम है। वहाँ शिव-पार्वती एक साथ विराजते हैं। मूलाधार में जो कुंडलिनी या सुषुम्णा है वह शिवतत्त्व से पृथक् है। रत्नसेन कहता है कि मैंने कैलास या ब्रह्मांड-चक्र में पहुँचकर कुंडलिनी का शिव से जोग किया है।

( ८ ) जाकर जीउ बसै जेहि सेतें, तेहि पुनि ताकर टेकि=जो जिस मत या साधना-मार्ग का अनुयायी है, उसे अपने विश्वास का आग्रह होता है। नाथ, शाक्त, कौल, सिद्ध, कापालिक, वामाचार, दक्षिणाचार, वैष्णव, शैव इत्यादि अनेक मत और पंथ जायसी के समय में प्रचलित थे ( श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'नाथ-संप्रदाय', पृ० ४, ११ आदि)। प्रत्येक को अपनी बात का आग्रह था। किंतु मत का आग्रह जोग की कथनी मात्र है, उससे कुछ नहीं होता। जोग की साधना से जब बिंदु सुमेरु पर्वत या ब्रह्मांड में पहुँच जाता है तब वियुक्त नहीं होता, वही सच्ची साधना है।

कनक=मेरु पर्वत का सुवर्ण। कैलास का नाम भी अष्टापद या सुवर्ण है। ब्रह्मांड-स्थित ओज। उसके सुंदर वर्ण से जब सोहागा ( शुक्र ) मिल जाता है, तब ऊर्ध्व रेत बनकर पुनः स्खलित नहीं होता।

अवटि=आवर्तन; घूमकर; मूलाधार-चक्र से सुषुम्णा-मार्ग द्वारा ऊपर उठकर। शुक्र या रेततत्त्व मूलाधार चक्र से ऊपर उठकर क्रमशः एक-एक चक्र में

संभूत होता हुआ अंत में आज्ञा-चक्र या ब्रह्मांड में ऊर्ध्वस्थित होता है। वही उसकी खोज में अंतिम परिणति और ऊर्ध्वपातन की पूर्ण प्रक्रिया है।

## २—छाजन या छप्पर की शब्दावली

*[नागमती वियोग खंड ३०।१६, क्रमांक दोहा ३५६]*

तपै लाग अब जेठ असाढ़ी। मै मोकहँ यह छाजनि गाढ़ी। १
तन तिनुवर भा झूरौं खरी। मै बिरहा आगरि सिर परी। २
साँठि नाहिं लगि बात को पूँछा। बिनु जिय भएउ मूँज तन छूँछा। ३
बंध नाहिं औ कंध न कोई। बाक न आव कहौं केहि रोई। ४
ररि दूबरि भई टेक बिहूनी। थंभ नाहिं उठि सकै न थूनी। ५
बरसहिं नैन चुअहिं घर माहाँ। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाँहाँ। ६
कोरे कहाँ ठाट नव साजा। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाजा। ७
अबहूँ दिस्टि मया करु छान्हिन तजु घर आउ। ८
मंदिल उजार होत है नव कै आनि बसाउ। ९

### पहला अर्थ (नागमती के पक्ष में)

(१) अब मेरे शरीर में विरह की जेठ-असाढ़ी तपने लगी है। मेरे लिये यह तपन दुःखदायी छाजन (एक रोग) हो गई है। (२) शरीर पतला हो गया है, मैं खड़ी सूख रही हूँ। विरह की खान मेरे सिर पड़ी है। (३) मेरे पास कुछ पूँजी नहीं है, अब स्नेह से बात कौन पूछेगा? बिना प्राण के मेरा शरीर मूँज की तरह छूँछा हो गया है। (४) इस समय मेरा कोई बंधु नहीं है और कोई सहारा (कंध-स्कंध) नहीं है। मुँह से वाक्य नहीं निकलता, किससे रोकर अपना हाल कहूँ? (५) रो-रोकर मैं दुबली हो गई हूँ और सब आश्रय से विहीन हूँ। जब थंभ नहीं रह गया तो थूनी कहाँ उठ सकती है? (६) मेरे नेत्र आँसू बरसाते हैं जो सारे घर में टपकते हैं। हे कंत, तुम्हारे बिना न शोभा है, न छाँह या बचाव है। (७) अरे, कौन कहाँ अब नया साज सजाएगा? हे कंत, तुम्हारे बिना अब वस्त्र शोभा नहीं देते।

(८) कृपा की दृष्टि करो, विजन या एकांत छोड़कर घर में आओ (अथवा बाहर कुटिया में रहना छोड़कर घर आओ)। (९) यह मंदिर उजाड़ हो रहा है, आकर नए सिरे से बसाओ।

टिप्पणी—( १ ) जेठ असाढ़ी=कठिनतम गर्मी के दिन ; अवधी में अब भी यह चालू शब्द है। इस सूचना के लिये मैं श्री माताप्रसाद जी गुप्त का अनुगृहीत हूँ। छाजनि=त्वचा का एक रोग, जिसमें बड़ी जलन होती है। जेठ-असाढ़ की गर्मी ऐसी लग रही है जैसे छाजन।

गाढी=कष्टदायक; दुःसह।

( २ ) तिनुवर, तनुवर= पतला अथवा तिनकों का ढेर। आगरि=खान, सं० आकर।

( ३ ) सांठि=पूँजी, ठिकाना। सं० संस्था।

( ४ ) बंध=बंधु, आत्मीय। कंध= स्कंध, कंधा, टेक, सहारा।

( ५ ) ररि=रोकर ( पद्मावत, ३५०।९ )।

( ६ ) छाजन = वस्त्र।

( ७ ) आन्हि= ( १ ) छान-छप्पर (२) विजन, प्रा० छण्ण (पासद्द० ४१९)।

## दूसरा अर्थ (छप्पर के पक्ष में)

( १ ) अब जेठ और असाढ़ तपने लगा है। मेरे लिये छाजन दुःखदायी हो गई है। ( २ ) इसका तान या फैलाव सिमिटकर ढेर हो गया है। मैं उसके नीचे खड़ी सूखती हूँ। वह टूट-फूट गई है, जिसके कारण ओरी सामने गिरने के बदले छप्पर के नीचे बैठनेवाले के सिर पर गिरती है। ( ३ ) इसमें सेंठे नहीं लगे। बत्ते का तो कहना ही क्या? डोरी के न रह जाने ( लपेट खुल जाने ) से मूँज की तानें छूँछी हो गई हैं। ( ४ ) बंद भी नहीं रहे और दीवार (कंध) भी कोई नहीं है। घुड़िया (वाक)भी नहीं है, किससे रोकर व्यथा कहूँ? (५) यह दुपलिया छान ( दूबरि ) अपने स्थान से सरक कर ( ररि ) टेक विहीन हो गई है, इसमें जो थंभ था वह नहीं रह गया। सहारे के लिये थूनी भी नहीं लग सकती। ( ६ ) इसके ऊपर धुआँ निकलने के लिये जो धमाले या धूमनेत्र बने थे वे पानी बरसने पर अब घर में ही टपकते हैं। हे कंत, तुम्हारे बिना अब छाजन छाँह नहीं करती। ( ७ ) पूरे बाँस ( कोरे ) कहाँ हैं जिनसे छान का ठाट नया बनाया जाय? हे कंत, तुम्हारे बिना छाजन नहीं छाई जा सकती। ( ८ ) अब भी कृपा-दृष्टि करो और विजन छोड़ो, घर में आओ। ( ९ ) यह राजमंदिर उजाड़ हो रहा है, आकर नया बसाओ।

टिप्पणी—(१) छाजनि=फूस का छप्पर।

(२) तन=तान, फैलाव। तिनुवर= फूस का ढेर (३५१।८); सं० तृणपूर या तृणकूट > तिनऊर > तिनवर।

बिरहा=टूट-फूट, भग्न दशा, खंडितावस्था। सं० विराधयति, प्रा० विराहइ, खंडन करना, तोड़ना, भग्न करना ( पासद्द० ९९३ )। आगरि=छप्पर के अगले सिरे पर गिरनेवाली धारावली, जिसे ओरी या ओलती एवं अगरी या आगरि भी कहते हैं (ग्रियर्सन, बिहार पेजेंट लाइफ, अनु० १२५२)। ओरी साधारणतः बाहर की तरफ गिरती है, लेकिन छप्पर के टूट जाने से उसका पानी भीतर बैठनेवाले के सिर पर गिरने लगता है। सं० अग्रावली।

(३) सांठि=सेंठा· सरकंडा, सरपत्र। इसका मुट्ठा लेकर छप्पर का बत्ता बनाते हैं। बात=बत्ता; सरकंडे काटकर उनके मुट्ठों से बत्ता बनता है, जिसे छप्पर के नीचे उसके अगले सिरे पर मजबूती के लिये बाँधते हैं ( बिहार पेजेंट लाइफ, अनु० १२५८ )।

बिनु जिय भएउ मूँज तनु छूँछा—सरकंडे की ऊपर की फुलई का छिलका मूँज कहलाता है। उसी को अलग करके भिगोकर और कूटकर बान बनाते हैं, वही डोरी या ज्या कहलाता है, जिसे जायसी ने 'जिय' कहा है। पुरानी पड़ जाने के कारण मूँज की डोरियों का लपेट जाता रहा, जिससे छप्पर में लगी मूँज का तान छूँछा ( निर्बल, निःसत्त्व, रीता ) पड़ गया।

( ४ ) बंध=बंधन या बंध। कंध = दीवार या कंधा, जिसपर छप्पर टिकता है; सं० स्कंध, प्रा० खंध। बाक = बाँक, छोटी आड़ी लगी हुई लकड़ियाँ या कैंची।

(५) ररि = रड़ककर, खिसककर गिरी हुई। देशी० रड्ड (कुमारपाल-प्रतिबोध) = खिसककर गिरा हुआ ( पासद्द० पृ० ८७४ )। हिं० रड़कना।

दूबरि = दोभर, दुपलिया या दुपरती, बीच में बलेंडा रखकर दोनों तरफ ढाल देकर जो दुपल्ली छान बनती है। जायसी का आशय है कि दुपलिया छान अपने स्थान से खिसककर टेक से विचलित हो गई है।

थंभ और थूनी—थंभ, नई छान को रोकने के लिये बनाया गया खंभा। थंभ के निकल जाने पर सहारा लगाने के लिये जो लकड़ी की बल्ली लगाई जाती है उसे थूनी कहते हैं।

(६) नैन = छप्पर के प्रकरण में इसका अर्थ वह छेद है, जिसमें से धुआँ निक-

लता है। पाली धूमनेत्त = धूमनेत्र (चुल्लवग्ग ६।३।९, विनय पिटक १।२०४, जातक ४।३६३; राईस डेविड्स, पाली डिक्शनरी, पृ० २१३)।

(७) कोरे = बिना चिरे हुए बाँस, जिनसे टट्टर या छान का ठाट बनाया जाता है (बिहार पेजेंट लाइफ, अनुच्छेद १२५८)।

नव ठाट = छप्पर को नए सिरे से बाँधने के लिये 'नव ठट करब' (बि० पे० ला०, अनु० १२४६) भोजपुरी में चालू प्रयोग है। दुपलिया छप्पर के प्रत्येक पल्ले को ठाट कहते हैं।

(९) छान्हि = छावनी। सं० छादन > प्रा० छयणि या छायणी > छाइनि > छानि > छान्हि।

## ( ३ ) पंखि-नामावली

*[नागमती वियोग खंड ३०।१८, क्रमांक दोहा ३५८]*

भई पुछारि लीन्ह बनबासू। बैरिनि सवति दीन्ह चिल्हवाँसू।१
कै खर बान कसै पिय लागा। जौं घर आवै अबहूँ कागा।२
हारिल भई पंथ मैं सेवा। अब तहँ पठवौं कौनु परेवा।३
धौरी पंडुक कहु पिय ठाऊँ। जौं चित रोख न दोसर नाऊँ।४
जाहि बया गहि पिय कँठ लवा। करै मेराउ सोई गौरवा।५
कोइलि भई पुकारत रही। महरि पुकारि लेहु रे दही।६
पियरि तिलोरि आव जलहंसा। बिरहा पैठि हिएँ कत नंसा।७
जेहि पंखी कहँ अढ़वौं कहि सो बिरह कै बात।८
सोई पंखि जाइ डहि तरिवर होइ निपात।९

**पहला अर्थ ( चिड़ियों के पक्ष में )**

( १ ) मैंने मोरनी बनकर प्रिय के लिये बनवास लिया। पर बैरिन सौत ने फँसाने का फंदा लगा दिया। ( २ ) अब भी जब कभी खरबानक के साथ कौवा घर आ जाता है, तो प्रिय लगता है। ( ३ ) हारिल मार्ग में टिक रही, अब वहाँ किस पक्षी को भेजूँ ? ( ४ ) हे धौरी, हे पंडुक, प्रिय का स्थान बताओ। यदि चितरोख पक्षी मिले तो दूसरे का नाम न लूँ। ( ५ ) हे बया, तू जा, मैं प्यारे कंठ-लवा को लेती हूँ। जो जोड़ा खाता है वही गौरवा पक्षी है। ( ६ ) कोयल बनकर मैं पुकारती रही। महरी (ग्वालिन) पुकार रही है—दही लो, दही लो। (७) हे प्रिय, तिलौरी और जलहंस आते हैं। कटनास पक्षी ( नीलकंठ ) हृदय में पैठकर उड़ गया।

(८) विरह की वह बात कहकर जिस पक्षी को (जाने के लिये) आज्ञा देती हूँ, (९) वही जल जाता है और उसका पेड़ भी नष्ट (निपात) हो जाता है।

टिप्पणी—(१) पुछारि = (१) मोरनी (२) पूछने की शत्रु। चिलबाँसू = चिड़िया पकड़ने का फंदा। देशी० चिल्ल (शकुनिका, देशी नाममाला ३।९; ८।८) + पाश > चिल्लवास > चिल्हवाँस।

(२) खरबानक = एक पक्षी। सैं = साथ में। पिय लागा = अच्छा लगता है।

(३) हारिल = हरियल पक्षी। सं० हारीत। भई पंथ मैं सेवा = मार्ग की सेवा करनेवाली हुई (मार्ग में टिक जानेवाली हुई)।

(४) धौरी = धवर पक्षी, फाख्ता की एक जाति। पंडुक = पड़की। चितरोख = चितरोखा पक्षी, फाख्ता की एक जाति।

(५) बया = बया नाम का पक्षी। कंठलवा = कंठलवा पक्षी, लवा की एक जाति। करै मेराउ = मिलाप करना, जोड़ा करना। जो जोड़ा खाता है वही भाग्यशाली है। गौरवा। सं० गौर, गौरैया का नर, चिड़ा पक्षी।

(६) कोइलि = कोयली पक्षी। महरि = ग्वालिन चिड़िया, जो दही-दही बोलती है।

(७) पियरि = पक्षी अर्थ में इसका पदच्छेद होगा—पिय + रि = पिय + रे (उर्दू लिपि में) = हे प्रिय। तिलौरी = तेलिया मैना। जलहंस = जल में क्रीड़ा करनेवाले हंस। कतनंसा = कटनास पक्षी (नीलकंठ)। बिरहा = उड़ गया, चला गया।

(८) अढ़वौं, धा० अढ़वना = आज्ञा देना (शब्दसागर), कार्य में नियुक्त करना, काम में लगाना (शब्दसागर)। प्रा० आढव, सं० आरंभ, शुरू करना (हेम० ४।१५५)।

(९) निपात = गिर जाना, नष्ट हो जाना, बिना पत्तों के हो जाना। इस प्रकरण में आए हुए पक्षियों की पहिचान के लिये मैं कुँवर सुरेशसिंह जी के लेख "जायसी का पक्षियों का ज्ञान" (प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, पृ० १६०–१६१) का आभारी हूँ।

### दूसरा अर्थ (नागमती पक्ष में)

(१) पूछनेवाली बनकर उसने बनबास लिया (कि पक्षियों से प्रिय का समाचार पूछूँगी पर कोई पक्षी वहाँ पहुँचता ही नहीं, क्योंकि) बैरिन सौत ने

पक्षियों को फँसाने के लिये चिल्हवाँस लगा रखे हैं। (२) इतने पर भी कोई कौवा यदि घर पहुँच जाता है, तो प्रियतम (भी उसी षड्यंत्र में मिलकर) तीक्ष्ण बाण चढ़ाकर उसको ओर खींचने लगता है। अथवा, पहली दो पंक्तियों का अर्थ इस प्रकार होगा—(१) पूछनेवाली बनकर उसने बनवास लिया। बैरिन सौत ने पति को छल फंदे में फँसा रक्खा है (या अपने चुहल में फँसा रक्खा है)। (२) प्रियतम ने पहले अपनी कंचन-काया को तपाकर उत्तम बान किया और अब उसे कसौटी पर कसकर देख रहा है। अब भी वह घर लौट आए तो क्या बिगड़ा? (३) उस मार्ग पर चलती-चलती मैं थक गई हूँ। अब संदेशा लाने के लिये वहाँ किस पक्षी (या किस दूसरे) को भेजूँ? (४) श्वेत और पीली पड़ी हुई मेरे लिये अब प्रिय का ही ठाँव है। यद्यपि चित्त में रोष है, फिर भी दूसरा नाम नहीं जानती। (५) जो जाकर आए, प्रिय को कंठ पकड़कर ले आए और मुझसे मिला दे, वही गौरवशाली (बड़े पदवाला) है। (६) आम की गुठली की कोइली (पपैया) जैसी बनकर मैं पुकारती रही। मेरी सास जी को बुलाओ। हाय मैं जली! (७) पियरी और तिलौरी छाती है, तो मेरा जी (हंस) जलता है। विरह हृदय में घुसकर क्यों मुझे मार रहा है?

(८) विरह की वह बात सुनाकर जिस पक्षी के पास आती हूँ, (९) वही पक्षी जल जाता है और वह पेड़ भी नष्ट हो जाता है।

टिप्पणी—(१) पुछारि = पूछनेवाली। सं० पृच्छा कारिका > पुच्छ आरिआ > पुछारिआ < पुछारी। चिल्हवाँसु, चिह्न और चिल्ह को एक मानकर छलवाँसु पढा जायगा। अर्थ होगा छल-पाश या कपट का फंदा।

(२) खर बान करके कसना, जायसी की यह प्रिय कल्पना और शब्दावली सोना साफ करने की प्रक्रिया से ली गई है। 'बनवारी' नामक आईन में खरे सोने के बान करने की प्रक्रिया बताई गई है। ईरान में दस बान का सोना खरा समझा जाता था, किंतु भारत में बारह बान का (आईन अकबरी, आईन सं० ५,६)। खरा बान करते हुए सोने को हर बार कसौटी पर कसकर देखते हैं। कसे = सं० कर्षति > प्रा० कस्सइ, खींचता है। हारिल = थकी हुई। परेवा = पक्षी या अन्य कोई।

(४) धौरी = सफेद, विरह में रंग उतरने से श्वेत पड़ी हुई। पंडुक = पांडु रंग की पीली। कहु = के लिये। चितरोस = चित्त में पति के प्रति रोष। जाहि-बया = संदेश लेकर जा और लौट आ। बया = आ (फा० क्रि० मध्यमपुरुष, एकवचन)।

(५) गौरवा, गौरवयुक्त। सं० गौरववत्।

(६) कोइली = आम की गुठली (शब्दसागर); उसके भीतर की गिजली जिससे बच्चे बजाने का पपैया बनाते हैं। महरी = सास; पुं० महरा = ससुर (४२४।३, नाँउँ लै महरा)। दही = जल गई, दग्ध हुई।

(७) पियरी = पीली रंगी हुई मांगलिक धोती या ओढ़नी (शब्दसागर) (काशी में विवाहोपरांत अब भी पियरी चढ़ाते हैं)। तिलोरी = तिलयुक्त बड़ियाँ, जो स्त्रियों के लिये दी जाती हैं।

## ४—पुष्पों के नाम

*[ रत्नसेन बिदाई खंड ३२।४, क्रमांक दोहा ३७७ ]*

बिनौ करै पदुमावति नारी। हौं पिय कँवल सो कुंद नेवारी।१
मोहि असि कहाँ सो मालति बेली। कदम सेवती चाँप चँबेली।२
औ सिंगार हार जस ताका। पुहुप करी अस हिरदै लागा।३
हौं सो बसंत करौं निति पूजा। कुसुम गुलाल सुदरसन कूजा।४
बकचुन बिनवौं अवसि बिमोही। सुनि बिकाउ तजि जाही जूही।५
नागेसरि जौं है मन तोरें। पूजि न सकै बोल सरि मोरें।६
होइ सतबरग लीन्ह मैं सरना। आगें कंत करहु जो करना।७
केत नारि समुझावै भँवर न काँटे बेध।८
कहै मरौं पै चितउर करौं जग्गि असुमेध।९

### पहला अर्थ (फूलों के पक्ष में)

(१) पद्मावती अपनी वाटिका की प्रशंसा (विज्ञप्ति) करती है (अथवा, पद्मावती अपनी वाटिका में फूल बीनती है। मैं प्रिय कमल हूँ; वह नागमती, कुंद और नेवारी के समान है (या, मैंने उस कुंदरूपी नागमती का निवारण कर दिया है)। (२) उसके पास मेरे जैसी मालती की बेल नहीं है। वह तो कदंब की सेवा करती है या चमेली को लिए बैठी है। अथवा, उसकी वाटिका में मेरी वाटिका जैसी मालती की बेल, कदंब, सेवती, चंपा और चमेली कहाँ हैं? (३) मेरे यहाँ वह हरसिंगार जैसा दिखाई पड़ रहा है (वह अति सुंदर है)। उसके फूलों की कलियाँ हृदय को लुभाती हैं। (४) मैं वह वसंत हूँ जो गुलाल, सुदर्शन और कुब्जक पुष्पों से सदा भरी रहती हूँ। या मैं सदा वसंत में

गुलाल, सुदर्शन और कूजा के पुष्पों से शिव की पूजा करती हूँ; अथवा वसंत में मैं सदा फूल और गुलाल से शिव-पूजन करती हूँ और उनके दर्शन से आनंदित होती हूँ )। ( ५ ) जाही जूही के पुष्प छोड़कर बकावली पर अनुरक्त हो उसके गुच्छे चुनकर रखती हूँ। अथवा, उस बकावली को छोड़कर जाही जूही के गुच्छे चुनती हूँ। ( ६ ) तेरे मन में जो नागकेसर है, वह मेरी मौलसरी की बराबरी नहीं कर सकती। ( ७ ) स्वयं सदबरग बनकर मैंने सरना फल का साथ पसंद किया है। हे प्रिय, तुम्हारे पास जो करना फूल ( नागमती ) है उसे सामने लाओ।

( ८–९ ) केतकी रूपी स्त्री समझाती थी, किंतु भौंरा काँटे में न फँसता था। कहता था मैं चित्तौड़ में ही मरूँगा और वहीं अश्वमेध यज्ञ करूँगा।

## दूसरा अर्थ (पद्मावती पक्ष में)

( १ ) पद्मावती बाला बिनती करने लगी—हे प्रिय, मैं पद्मिनी हूँ, वह ( नागमती ) खराद पर बनाई हुई ( कठपुतली ) है। ( २ ) वह मेरे जैसी तीन भंगिमाओं वाली सुंदर नहीं है। मैं आपके चरणों की सेवा करती और चमेली का तेल मलती हूँ ( ३ ) उसका शृंगार करनेवाला हार जैसा ( अथवा जस्ते का ) है, वह कली किए हुए पीतल की भाँति हृदय में चुभता है। ( ४ ) मैं आपके साथ शयन करने के लिये गुलाल सदृश पुष्प ( ऋतु धर्म ) से सदा भरती हूँ और आपके दर्शन से कूजती ( आनंदित ) होती हूँ। ( ५ ) आपके रूप से अपने वश में न रहकर मैं मोहित हो गई हूँ और वाक्य चुन-चुनकर बिनती करती हूँ। उन्हें सुनकर आप मुझे बहकाकर और त्याग कर यदि चले जायँगे तो मैं आपकी बाट जोहूँगी। ( ६ ) यदि आपके मन में वह सर्पिणी बसी है तो वह मोर की ( अथवा मेरी ) बोली के सामने नहीं ठहर सकती। ( ७ ) सत्य के बल की अनुयायी होकर मैंने आपकी शरण ली है। हे कंत, आगे जैसा आप करना चाहें करें।

( ८ ) स्त्री कितना ही समझाती थी, किंतु भौंरा काँटे में न बिंधता था। ( ९ ) कहता था मैं चित्तौड़ में ही मरूँगा और वहीं अश्वमेध यज्ञ करूँगा।

टिप्पणी—( १ ) कँवल = पद्मिनी स्त्री या कमल का फूल। कुंद = खराद; एक फूल का नाम। नेवारी = बनाई गई, निवृत्त की गई; एक फूल का नाम। कुंद नेवारी = खराद पर खरादी हुई कठपुतली जिसे पौली ( पाउल्लिया = पुतली ) भी कहते हैं।

(२) मालति बेली = मालती की बेल। पद्मावती के पक्ष में अर्थ होगा 'मालति बेली अर्थात् तीन मोड़ या त्रिभंग का लता-बंध नामक रतिकरण जाननेवाली; त्रिभंगी मुद्रा से लिपट जानेवाली। माल=वेष्टित होना, लिपटना (पासद० पृ० ८५१) अथवा, माल = सुंदर (देशी० ६।१४६), तिबेली=त्रिभंगी शरीर-यष्टि वाली। कदम = कदंब का पुष्प; चरण। सेवती = सेवती या शतपत्रिका नामक सफेद गुलाब का फूल। सं० शतपत्रिका > प्रा० सयवत्तिया > सइवत्तिआ > सेवत्तिआ > सेवती। चाँप = चंपा; चंपा का फूल; धातु चाँपना = मीड़ना, मलना, दबाना। चंबेली = चमेली।

( ३ ) सिंगार हार = पारिजात या हरसिंगार नामक फूल; अथवा शृंगार करने का हार। आईन की पुष्प-सूची में सिंगारहार का नाम है। जस तस्का, जैसा उसका है; या जस्ते का बना हुआ। पुहुप = पुष्प; पीतल या फूल। करि = फूल की कली; अथवा कलई, मुलम्मा। हिरदै लागा = कंठ में पहना हुआ; हृदय में चुभता है, मनको अच्छा लगता है।

(४) हौं सो बसंत = (फूलों के पक्ष में) मैं वह बसंत हूँ; (पद्मावती पक्ष में) मैं आपके साथ सोने के लिये (सोव + संत)। निति पूजा करौं = नित्य पूजन करती हूँ। (पद्मावती पक्ष में) ऋतु-धर्म से नित्य भरती हूँ। फारसी लिपि में सो को सिव भी पढ़ा जायगा। वसंत में शिवरात्रि के दिन फूल - गुलाल से शिव का पूजन किया जाता है।

पूजा, धातु पूजना, सं० पूर्यते > प्रा० पुज्जइ। कुसुम गुलाल = सुंदर लाल रंग का फूल; अथवा फूल के पत्तों से बनाया हुआ अबीर। कुसुम = पुष्प; (पद्मावती पक्ष में) रजोधर्म। सुदरसन = सुदर्शन नामक फूल; (पद्मावती पक्ष में) सुंदर दर्शन से। कूजा = कुब्जक नामक पुष्प; (पद्मावती पक्ष में) कूजना या प्रसन्नता से गुनगुनाना।

(५) बकचुन = (पद्मावती पक्ष में) इस शब्द का पदच्छेद होगा बक + चुन; वाक्य या शब्द चुन-चुनकर बिनती करती हूँ। (फूलों के पक्ष में इसका पाठ बकुचन होगा) = छोटी गठरी या गुच्छा (जाही जूही बकुचन लावा)।

बिनवौं = बिनती या प्रशंसा करती हूँ या फूल चुनती हूँ। बकाउ, इसका पाठ माताप्रसाद जी ने बिकाउ दिया है। फारसी लिपि के अनुसार बकाउ और बिकाउ दोनों पाठ संभव हैं। बकाउ = वाक्य अथवा बहकाना। मुझे संदेह है कि मूल पाठ सुनि बिकाउ था। प्रतीत होता है कि मूल पाठ सुबकाउरि था, जिसका अर्थ होगा

( पद्मावती पक्ष में ) सुंदर वाक्यावली को ( त्यागकर यदि तुम चले जाओगे )। ( फूलों के पक्ष में ) सुंदर बकावली का पुष्प, गुलबकावली, जिसे हिंदी में बकाउरि भी कहा जाता था ( हिंदी शब्दसागर, पृ० २३४९ ) । इसमें मुझे जायसी की द्व्यर्थ-गर्भित शैली के सौंदर्य के लिये पाठ - संशोधन ( Text emendation ) की आवश्यकता जान पड़ती है । माताप्रसाद जी की एक प्रति के अनुसार 'सो ककउर' पाठ है जो 'सुबकाउरि' मूलपाठ की ओर संकेत करता है। सुबकाउरि पाठ मानकर अर्थ होगा—नागमती रूपी सुंदर गुलबकावली से विमोहित होकर क्या पद्मावतीरूपी जूही को छोड़ जाओगे ?

जाही = जाति नामक पुष्प; ( पद्मावती-पक्ष में ) जाओगे ।

जूही = यूथिका नामक पुष्प; ( पद्मावती पक्ष में ) फारसी लिपि में इसका पाठ 'जोही' होगा = जोहना, बाट देखना, प्रतीक्षा करना या खोज लगाना ।

(६) नागेसरि, सं० नागेश्वरी, नाग की स्त्री, साँपिन; नागमती की ओर संकेत है । बोलसरि = मौलसरी का फूल । सं० बकुलश्री; ( पद्मावती-पक्ष में ) बोल अर्थात् वाक्य के; सरि = तुलना में । मोरें = मोर या मेरे । मोरनी रूपी पद्मावती के बोल सुनकर साँपिन रूपी नागमती बराबरी नहीं कर सकती ।

(७) सतबरग = शतवर्ग नामक फूल, हजारा गेंदा; ( पद्मावती पक्ष में ) सत्य के बल से चलनेवाली (सत + बर + ग)। सरना = एक प्रकार का पौधा जिसका फूल गुलाबी रंग का होता है, बकुची, सं० सरण ( मोनियर विलियम्स संस्कृत कोष, पृ० ११८२ ); इसे प्रसरा ( मोनियर० पृ० ६९८ ) और प्रसारणी भी कहते हैं ( मोनियर० तथा वाट, डिक्शनरी ऑव इकनॉमिक प्रॉडक्ट्स भाग ६ खंड १ पृ० २, Paederia foetida ) । ( पद्मावती पक्ष में ) शरण ।

करना = एक पौधा, जिसके पत्ते केवड़े की तरह लंबे और बिना काँटों के होते हैं। उसमें सफेद फूल लगते हैं, सुदर्शन ( हिंदी शब्दसागर ), सं० कर्ण। आईन अकबरी में फूलों की सूची में करना वसंत में फूलनेवाला एक सफेद फूल है ( आईन ३० ) । मोनियर विलियम्स संस्कृत कोश के अनुसार कर्ण दो पुष्पों का पर्यायवाची है—अमलतास (Cassia Fistula) और आक या मदार (Calotropis gigantea) का। प्रसंग के अनुसार यहाँ आक का फूल अर्थ ठीक बैठता है । पद्मावती का आशय है कि अपने नागमतीरूपी मदार के फूल को मेरे आगे करो । सतबरग······इस चौपाई में तीन श्लेष से तीसरा भी अर्थ है । सत बरग =

सात झंडे। तुरकी बैरक ▷ हिं० बैरख ▷ हिं० बरग = झंडा। सरना = एक प्रकार का नायका बाजा जिसमें कम से कम नौ एक साथ बजाए जाते हैं।

करना=उसी प्रकार का दूसरा बाजा, जिसमें चार एक साथ बजाए जाते हैं। अबुल फजल ने अकबर के नक्कारखाने का वर्णन करते हुए इन दोनों बाजों का वर्णन किया है (आईन० २१, पृ० ५३)। जुलूस के समय कई प्रकार के शाही झंडे एक साथ चलते थे जिसका उल्लेख आईन-अकबरी में किया गया है (वही, पृ० ५२)। पद्मावती का आशय यह है कि जुलूस में सात झंडों के साथ होकर मैं सरना नामक बाजा बजा रही हूँ। तुम्हारे पास जो नागमती रूपी करना नामक बाजा है, उसे हे प्रियतम, मेरे सामने आने दो। इस प्रकार श्लेष से इस वाक्य की अर्थ-गति कई ओर है।

(८) केत = केतकी का फूल; (पद्मावती पक्ष में) कितना।

## ५—पद्मावती द्वारा नागमती की वाटिका की प्रशंसा और निंदा

*[ चित्तौर आगमन खंड ३५।१२, क्रमांक दोहा ४३२ ]*

पलुही नागमती कै बारी। सोन फूल फूली फुलवारी। १
जावँत पंखि अहे सब डहे। वे बहुरे बोलत गहगहे। २
सारौ सुवा महरि कोकिला। रहसत आइ पपीहा मिला। ३
हारिल सबद महोख सो आवा। काग कोराहर करहिं सोहावा। ४
भोग बेरास कीन्ह अब फेरा। बासहिं रहसहिं करहिं बसेरा। ५
नाचहिं पंडुक मोर परेवा। निफल न जाइ काहु कै सेवा। ६
होइ उँजियार बैठि जस तपी। खूसट मुँह न देखावहिं छपी। ७
नागमती सब साथ सहेलीं अपनी बारी माँह। ८
फूल चुनहिं फर चूरहिं रहस कोड सुख छांह॥ ९

### पहला अर्थ (प्रशंसापरक)

पद्मावती—(१) नागमती की वाटिका फिर से पल्लवित हुई है। उसमें सुनहले फूलों की फुलवारी फूली है। (२) जितने पक्षी थे, सब आकर उसमें उड़ने लगे हैं। वे सब लौटकर प्रफुल्लित हो बोलने लगे हैं। (३) मैना, सुग्गा, ग्वालिन और कोकिला के साथ रहसता हुआ पपीहा आ मिला है (४) उसमें हारिल बोल रहा है और महोख भी आ गया है। कौए सुंदर कोलाहल कर रहे

हैं। (५) अब सब पक्षी फिर से भोग-विलास कर रहे हैं। वे सब उस वाटिका में बसते, रहसते और रात में बसेरा लेते हैं। (६) पंडुक, मोर और परावत नाचते हैं। किसी की सेवा बिना फल के नहीं की जाती, सबको फलों का भोग मिलता है। (७) वह नागमती उज्ज्वल वेश में वहाँ तपस्विनी सी बैठी है। उसकी वाटिका में उल्लू मुँह नहीं दिखाते, कहीं छिप गए हैं।

(८–९) अपनी बगीची में नागमती और साथ की सब सहेलियाँ फूल चुनती और फल खाती हैं, एवं रहसक्रीड़ा और सुख का आनंद लेती हैं।

टिप्पणी—पलुही = पल्लवित हुई। सं० पल्लव लग > पल्लव लह > पालो लह पलुह।

(२) गहगहे = प्रफुल्ल या आनंदमग्न होकर। धातु० गहगहाना = आनंद और उमंग से फूलना। संभवतः सं० गद्गद से प्रा० गहगह = हर्ष से भर जाना (भविसयत्त कहा, पासह० ३६५)।

(७) खूसट = उल्लू की एक जाति।

## दूसरा अर्थ (निंदापरक)

(१) नागमती की वाटिका पाला मारी हुई है। उसकी बगीची तो नहीं फूलती पर वह फूलवाली (गर्व से) फूली हुई है। (२) उसमें जितने पक्षी थे, सब जल गए। वे बंधन में फँसे हुओं की भाँति बहुत टें-टें करते हैं। (३) किसने वहाँ से सुग्गे को मार डाला, ग्वालिन को कील दिया। उसका सत अब और कैसे बचेगा जब उसमें पपहा (घुन) लग गया है? (४) सब कुछ देकर भी वह हार गई है। अब किसी साँड़ को पास सुलाती है। उसकी गोद में कौआ है। ऐसी निर्लज्ज है कि हाथ के इशारे से वह शृंगार-चेष्टा (हाव) करती है। (५) भोगी और विलासी अब उसके यहाँ फेरा करने लगे हैं। वे उसके साथ रहसते और उसी के यहाँ बसेरा करते हैं। (६) पंडुक रूपी उस नागमती को मोर जैसे पक्षी (रत्नसेन) अब नहीं चाहिएँ। अब तो किसी से भी सेवित होकर वह फल जाती है। (७) वह अनमनी होकर जली सी बैठी है और अपना खूसट सा मुँह नहीं दिखाती।

(८–९) वह नागिन मर गई है साथ की सब सहेलियाँ उसकी अपनी बगीची में ही उसके फूल चुनती हैं और उसके निमित्त नारियल फोड़ती हैं। उसकी क्रीड़ा और उसका सुख सब समाप्त हो गया है।

टिप्पणी (१) पलही = पाले से मारी हुई। फारसी-लिपि में पलुही और पलही दोनों पढ़े जा सकते हैं। सोनफूल का पदच्छेद होगा—सो न फूल। फूली फुलवारी = फूलवाली घमंड में फूल गई है, अथवा शरीर से फूलकर मुटढंगी हो गई है जो बाँझ होने का लक्षण है।

( २ ) डहे का एक अर्थ उड़ना ( डहना = पंख ) और दूसरा जल जाना है। ते बहुरे = ( १ ) वे वापिस लौट आए, (२) पदच्छेद करने पर ते बहु रे ( बोलत )। गहगहे = बंधन में पकड़े हुए; सं० ग्रह् = बंधन, गृहीत ( = पकड़े हुए) > प्रा० गहीश्र। गहगहीश्र > गहगहे।

( ३ ) सारै, धातु सारना। सं० ग्रह का धात्वादेश। प्रा० सारइ = ग्रहता है [ हेमचंद्र० ४।८४ ]। महरि कोकिला, पदच्छेद महरि को किला = किसने ग्वालिन चिड़िया को कील दिया या उसका मुँह बंद कर दिया। रहसत का पदच्छेद रह + सत क्या उसका सत रह सकता है ? पपीहा = फारसी लिपि में लिखा हुआ यह शब्द पपहा भी पढ़ा जायगा। पपहा = एक प्रकार का घुन जो जौ, गेहूँ आदि में घुसकर उनका सार खा जाता है और केवल ऊपर का छिलका ज्यों-का-त्यों रहने देता है ( शब्द-सागर पृ० १८९० )।

( ४ ) हारिल सबद = सब देकर भी हार गई। महोख = ( १ ) एक प्रकार का पक्षी ( २ ) साँड़। काव्यशास्त्र के अनुसार पुरुष चार जाति के होते हैं—अश्व, मृग, वृष, शश। यहाँ वृष-संज्ञक पुरुष से तात्पर्य है। महोख > सं० महोक्ष = साँड़। सो + आवा = सोआवा = सुलाती है। काग = कौआ अथवा कौए की जाति जैसा चालाक। कोराहर = ( १ ) कोलाहल; ( २ ) पदच्छेद—कोरा + हर = गोद में ले जाती हैं अर्थात् कौए जैसे धूर्त व्यक्ति को गोद में बैठाती है। कोरा, कोर > क्रोड़ = गोद। करहिं सोहावा (पदच्छेद, करहिं सो + हावा) = वह हाथों से हाव ( शृंगार-चेष्टा ) करती है। यह अत्यंत कामुकता का सूचक है।

(५) भोग बेरास—फारसीलिपि में इसे भोगि बेरासि भी पढ़ा जायगा, अर्थात् भोगी विलासी या जार, उसके यहाँ चक्कर काटने लगे। वे उसके साथ उठते-बैठते क्रीड़ा करते और उसी के यहाँ रहते हैं।

( ६ ) नाचहिं पंडुक, पदच्छेद ना + चहिं पंडुक, अर्थात फाख्ता जैसी वह मोर जैसे तुमको नहीं चाहती। निफल न जाइ काहु कै सेवा, इस वाक्य के कई व्यंग्य अर्थ हैं—( १ ) कोई भी उसकी सेवा करे, वह निष्फल नहीं जाती, उसी से

फलवती या हरी हो जाती है ; ( २ ) वह बगीची बिना फल की है, किसी के काम नहीं आती।

(७) उँजियार (फारसी-लिपि में यह अनजियार भी पढ़ा जा सकता है) = अन्य जी की, अनमनी। तपी = तपाई गई या जली हुई। होइ अंजियार बैठ जस तपी, इसका अर्थ यह भी हो सकता है—शरीर से काजल ( अंजन ) सी काली वह जली बैठी है। अंजियारि < अंजन कारिका।

(८) नागमती, पदच्छेद नाग + मती। फारसी लिपि में नाग को नागि भी पढ़ सकते हैं = नागि = नागिनी अर्थात् नागमती। मती, सं०मृता > आ० मत्त = मर गई। नागमती की मृत्यु होने पर उसकी अपनी बगीची में, जहाँ वह क्रीड़ा करती थी, सखियों ने उसका दाह - संस्कार कर दिया।

( ९ ) फूल चुनहिं = दाह-क्रिया के बाद तीसरे दिन अस्थि बीनने को फूल चुनना कहते हैं। फर चूरहिं=मृतक के अस्थि-प्रवाह के साथ नारियल आदि फल तोड़कर साथ में डाल देते हैं। रहस कोड़, पदच्छेद रह + स कोड अर्थात् वह आनंद-सुख सब रह गया। कोड प्रा०, कोड्ड, कुड्ड = कौतुक, क्रीड़ा।*

---

* साहित्य-सदन, चिरगाँव से प्रकाश्य 'पदमावत-भाष्य' से।

इस लेख में कृपया पाठक यथास्थान इस प्रकार संशोधित रूप में पढ़ें—पृ० १६० पंक्ति १७ में '६ + ६ + १ '; पंक्ति १९ में ' १२ घर और १ घर' ; तथा १३ के दाँव के विवरण में' २+६+५'। पृ० १६१ पंक्ति १५-१६ में 'पक्के बारह = १०+२; इसमें दो गोटें एक साथ १० घर चलती हैं और तीसरी २ घर। पक्के बारह या पौ बारह = ६+६+१; इसमें दो गोटें १२ घर चलती हैं और तीसरी १ घर।'—लेखक

# चतुर्भुजदास की 'मधु-मालती'

[ श्री माताप्रसाद गुप्त ]

चतुर्भुजदास कृत 'मधुमालती' हिंदी की एक प्राचीन प्रेम-कथा है जो विशुद्ध भारतीय शैली में लिखी गई है। चतुर्भुजदास नाम के एक से अधिक साहित्यकार हुए हैं, जिनमें से एक तो अष्टछाप के प्रसिद्ध भक्त थे, और 'मधुमालती' नाम की भी एक से अधिक रचनाएँ मिलती हैं, इसलिये हमारे साहित्य के इतिहास-लेखकों ने इस रचना के लेखक और इसकी कथा के संबंध में प्रायः भूलें की हैं। उदाहरण के लिये हिंदी साहित्य के सबसे पुराने इतिहास-लेखक गार्सां द तासी ने सं० १८९६ तथा पुनः सं० १९२७-२८ (द्वितीय संस्करण) में प्रकाशित अपने इतिहास-ग्रंथ 'इस्त्वार द ला लितरात्यूर एँदूई ए एँदूस्तानी' में लिखा है कि इसके लेखक चतुर्भुजदास मिश्र हैं[1] और इसके नायक-नायिका वे ही हैं जो दखिनी के प्रसिद्ध कवि नुसरती के 'गुलशन-ए-इश्क़' के हैं![2] इसी प्रकार मिश्रबंधुओं ने अपने 'मिश्रबंधुविनोद' में इसे विट्ठलनाथ जी के शिष्य चतुर्भुजदास गोरवा की रचना बताया है।[3]

किंतु वास्तविकता यह है कि यह न चतुर्भुजदास मिश्र की रचना है और न चतुर्भुजदास गोरवा की। रचयिता ने ग्रंथ को समाप्त करते हुए अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

> कायथ निगम जु कुल इहै, नाथ सुत भया राम।
> तनय चतुर्भुज तासके, कथा प्रकासी ताम॥

इससे यह स्पष्ट है कि लेखक निगम कायस्थ था और चतुर्भुजदास मिश्र तथा चतुर्भुज दास गोरवा से भिन्न था।

---

१—द्वितीय संस्करण ( सं० १९२७), जिल्द १, पृ० ३८८

२—वही, ( सं० १९२८ ), जिल्द २, पृ० ४८५

३—जिल्द १, नो० ५६

**इसी प्रकार इस ग्रंथ की कथा भी नुसरती के 'गुलशन-ए-इश्क' तथा मंझन की 'मधुमालती' की कथाओं से सर्वथा भिन्न है।**

**'गुलशन-ए-इश्क' से कुछ अंश अपने प्रसिद्ध 'शहपारा' में देते हुए श्री कादरी ने उक्त अंश की भूमिका में जो कथा दी है,[४] वह इस प्रकार है —**

शाहजादा मनोहर शाहजादी चंपावती को दुश्मनों की कैद से छुड़ाकर उसके माँ-बाप से मिलाता है, जिससे चंपावती उससे प्रेम करने लगती है। चंपावती की माँ को मालूम होता है कि मनोहर उसके अधीन एक राजा की लड़की मधुमालती को चाहता है, इसलिये वह मधुमालती और मनोहर का मिलन कराकर मनोहर के उपकार का बदला चुकाने की सोचती है। वह इसी उद्देश्य से मधुमालती की माँ को न्योतती है और उसकी खूब खातिर करती है। जब चंपावती मधुमालती की माँ से बातें करती रहती है, उसी समय चंपावती की माँ मधुमालती को अपना बाग दिखाने के बहाने बाहर ले जाती है। दोनों में बातें होने लगती हैं। मधुमालती चंपावती की माँ से चंपावती के वापस मिलने का ब्यौरा पूछती है तो चंपावती की माँ कहती है कि उस ( मधुमालती ) के प्रेमी मनोहर ने ही चंपावती की जान बचाई। मधुमालती इस उत्तर से जब लज्जित होती है तो चंपावती की माँ उसे विश्वास दिलाती है कि वह उसका भला चाहती है और उसके प्रेम की बात प्रकट न होने देगी। इसके बाद वह उसे मनोहर की अँगूठी भी दिखाती है, जिसे देखते ही मधुमालती की विरह-वेदना तीव्र हो उठती है और वह उस वेदना को जी खोलकर व्यक्त करने लगती है। [ भूमिका यहीं समाप्त होती हैं और इसके अनंतर मधुमालती के विरह-निवेदन का अंश 'शहपारा' में उद्धृत किया गया है। ]

**मंझन की मधुमालती की कथा हमारे साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में दी हुई है,[५] अतः उसे यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' की मुख्य कथा अत्यंत संक्षेप में इस प्रकार है—**

लीलावती देश का राजा चतुरसेन था, जिसका मंत्री तारणसाह था। राजा की एक कन्या थी जिसका नाम मालती था और मंत्री का एक पुत्र था जिसका नाम था मनोहर, किंतु जिसे वह 'मधु' कहा करता था। मधु को पढ़ाने के लिये मंत्री ने एक पंडित नियुक्त किया। राजा ने भी मालती को पढ़ाने की बात सोची, और

---

४—पृ० २२८-२२९

५—द्रष्ट० डा० कमल कुलश्रेष्ठ : हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० ३८-४०

उसी पंडित से पढ़वाने का निश्चय किया। पंडित दोनों को साथ-साथ पढ़ाने लगा, केवल मालती को परदे के पीछे बैठना होता था। परदे की ओट से मालती मधु को देखा करती थी। एक दिन पंडित थोड़ी देर के लिये उठकर अरण्य चला गया तो मालती ने परदा हटा दिया और दोनों की आँखें चार हो गईं। मालती का प्रेम बढ़ने लगा। मधु को उसने बहुतेरा अपनी ओर आकृष्ट करना चाहा, किंतु मधु आगे बढ़ने से हिचकता रहा। मालती के प्रेमानुरोध के उत्तर में उसने कहा भी कि एक तो वे दोनों एक ही गुरु के शिष्य हैं, दूसरे वह राजकुमारी है और स्वतः वह मंत्री-पुत्र है, इसलिये दोनों का प्रेम-संबंध उचित न होगा। इसके अनंतर मधु ने वहाँ पढ़ना छोड़ दिया। अब वह रामसरोवर जाकर गुलेल खेलने लगा। मालती भी खेलने के बहाने सखियों के साथ राम-सरोवर आने लगी। मालती की एक अंतरंग सखी जैतमाल थी, जो ब्राह्मण-कन्या थी। अपने प्रणय-व्यापार में उसने जैतमाल की सहायता चाही। जैतमाल कुछ सखियों को लेकर मधु के पास गई और उससे उसके पूर्व-जन्म की कथा कहने लगी। उसने कहा कि शंकर ने जब काम को भस्म किया तो उसकी राख से पाटलि (मालती) और भ्रमर (मधु) उत्पन्न हुए। पास में एक सेवती का वृक्ष था, उसी से जैतमाल का अवतार हुआ। एक बार हेमंत के तुषारपात के कारण पाटलि जल गई। सेवती ने किसी प्रकार उसकी सेवा-शुश्रूषा करके उसे पुनर्जीवित किया। तब तक निष्ठुर मधुकर उड़कर कहीं अन्यत्र जा चुका था। पाटलि ने उसके विरह में प्राण त्याग दिए। अब वही भ्रमर और पाटलि पुनः मधु और मालती के रूप में अवतरित हुए हैं, इसलिये दोनों का विवाह होना चाहिए। जैतमाल के आग्रह से मधु मान गया और जैतमाल ने दोनों का विवाह करा दिया।

रामसरोवर के पास की वाटिका में नव दंपति रहने लगे। वहाँ एक माली था, जो छिप छिपकर दोनों के प्रेम-व्यवहार देखा करता था। उसने राजा को यह सब समाचार सुनाया। राजा ने महल में जाकर रानी से सारी कथा कही और कहा कि दोनों को यथाशीघ्र मरवा डालना ही ठीक होगा। यह सुनते ही रानी ने चुपचाप मधु और मालती के पास संदेश भेजा कि वे दोनों देश छोड़कर अन्यत्र चले जायँ क्योंकि वहाँ रहने पर उनके प्राणों का भय है। मालती इससे सहमत हुई, किंतु मधु को अपनी गुलेल पर विश्वास था; उसने वहाँ से हटना आवश्यक नहीं समझा। राजा ने दोनों को मारने के लिये पायक भेजे। मधु ने अपनी गुलेल से मार-मारकर उन्हें विचलित कर दिया। दूसरी बार राजा ने एक हजार सवार भेजे। इस बार भी उसकी गुलेल की मार से सारी सेना हार गई। तीसरी बार राजा ने पाँच हजार सैनिक भेजे। यह जानकर जैतमाल ने मधु को अपने भ्रमर-कुल का विस्तार करने का परामर्श दिया। मधु ने तदनुसार किया। इसी समय राजा की सेना

ने मधु पर चढ़ाई की। जैतमाल ने वह भ्रमर-सेना राजा की सेना के विरुद्ध चला दी। भ्रमर राजा के सैनिकों से चिमट गए और राजा की वह सेना भी हारकर भाग निकली। चौथी बार राजा ने स्वतः युद्ध-क्षेत्र में जाने का निश्चय किया। उसने दस हजार घुड़सवारों तथा पाँच हजार हाथियों की सेना तैयार की और आक्रमण कर दिया। इस बार सारी सेना सनाह से सुसज्जित थी, इस कारण भ्रमर उसको विचलित न कर पाए। किंतु मधु हाथियों पर अपनी गुलेल से प्रहार करने लगा। इधर जैतमाल के परामर्श पर मालती ने केशव का स्मरण किया और केशव ने उसकी प्रार्थना पर दो दीर्घाकार भारंड पक्षी भेज दिए। शिव ने भी कृपा करके एक सिंह भेज दिया। इन सबके सम्मिलित प्रहार से राजा की सेना इस बार भी भाग निकली। राजा ने अपने को असहाय पाकर अंत में अपने विश्वस्त मंत्री तारण-साह को बुलाया। तारण ने भारंडों को हरि की दुहाई तथा सिंह को शिव-गौरी की दुहाई देकर रोक दिया। तब शक्ति ने तारण की प्रार्थना सुनी; वह बोल उठी—"राजा, तुमने मधु को वणिक-कुल में जन्म लेने के कारण वणिक ही समझ लिया है, सो तुम्हारी भूल है। अविनाशी राम-कृष्ण ने भी गोप-वंश में अवतार लिया था। इसी प्रकार मधु भी देवांश है और मधु, मालती तथा जैतमाल तीनों अभिन्न हैं।" राजा ने क्षमा माँगी। उसने तीनों को नगर में लाकर मधु के साथ मालती तथा जैतमाल का विवाह कर दिया। विवाह के अनंतर राजा ने मधु से, उसको राजपाट देकर अपने विरक्त होने की आकांक्षा प्रकट की। इसपर मधु ने उसे बताया कि उसे राजपाट से कोई प्रयोजन नहीं है—वह तो काम का अवतार है, और ये तीनों काम की विभिन्न कलाएँ हैं। वह राजपाट ग्रहण नहीं करेगा। [ यहाँ पर मधु काम-निरूपण करता है और कथा समाप्त होती है। ]

नुसरती और मंझन की कथाओं से इस कथा की तुलना करने पर ज्ञात होगा कि उन दोनों के साथ इसका कोई संबंध नहीं है और यह एक सर्वथा भिन्न कथा है। और उपर्युक्त केवल मुख्य कथा है; इसके साथ दर्जनों साक्षी-कथाएँ भी स्थान-स्थान पर विभिन्न कथनों को उदाहृत करने के लिये दी हुई हैं, किंतु इन साक्षी-कथाओं में से भी कोई उक्त दोनों के ज्ञात अंशों में नहीं पाई जातीं। अतः यह प्रकट है कि प्रस्तुत कथा उक्त दोनों से एक नितांत स्वतंत्र कृति है।

प्रश्न यह हो सकता है कि प्रस्तुत कृति का रचना-काल क्या है। इसमें रचना-तिथि का उल्लेख नहीं किया गया है, और न किसी ऐसे व्यक्ति अथवा ऐसी घटना का ही उल्लेख किया गया है कि उससे इसके रचना-काल के निर्धारण में सहायता मिल सके।

कुछ अन्य ग्रंथों में मधु-मालती की प्रेम - कथा के संकेत अवश्य मिलते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत ( सं० १५९७ ) में आता है—

साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधु मालति कहँ कीन्ह वियोगू।[६]

बनारसीदास जैन की आत्मकथा 'अर्द्धकथा' में सं० १६६० की घटनाओं का उल्लेख जहाँ होता है, वहाँ मिलता है—

तब घर में बैठे रहैं, जाहिं न हाट बजार।
मधुमालति मिरगावति, पोथी दोइ उदार॥
ते बाँचहिं रजनी समै, आवहिं नर दस बीस।
गावैं अरु बातैं करहिं, नित उठि देहिं असीस॥[७]

दुखहरनदास की 'पुहुपावती' ( सं० १७२६ ) में आता है—

भई बार दूती अकुलानी।
गई जहाँ पुहुपावति रही। कै जोहार बिनती अस कही।
ऐ पुहुपावति भई बड़ि बेरा। माइ तुम्हारि करहिं सर फेरा।
जौ नहाइ आवहिं एहि ठाईं। होइ बात मधु मालति नाईं।
अज्ञा लेइ चलहु अब गेहा। मिलिहौ बहुरि भयौ जो नेहा।[८]

इस प्रसंग में यह जान लेना आवश्यक होगा कि मंझन की रचना का समय ९५२ हि० ( सं० १६०२ है ),[९] और नुसरती की रचना का समय १०६८ हि० ( सं० १७१४ )।[१०]

जायसी मंझन और नुसरती की रचनाओं की ओर संकेत नहीं कर सकते थे—यह बताने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे दोनों पूर्ववर्ती थे। किंतु उन्होंने चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' का भी उल्लेख नहीं किया है, यह इससे प्रकट है कि चतुर्भुजदास की रचना के नायक-नायिका कथा भर में कहीं वियुक्त वर्णित नहीं हैं, और न नायक कहीं भी योग-साधना करता है।

---

६—'जायसी-ग्रंथावली' ( प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित ), पृ० २७६

७—'अर्द्ध कथा', दो० ३३५-३६

८—पुहुपावली ( ना० प्र० स० की प्रति ), पत्रा १२९

९—डा० कुलश्रेष्ठ, हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य, पृ० ३६

१०—श्री रामबाबू सक्सेना, हिंट्री ऑव उर्दू लिट्रेचर, पृ० ४०

बनारसीदास जैन ने चतुर्भुजदास की रचना का उल्लेख किया है या इसी नाम की किसी अन्य रचना का, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके उल्लेख में कथा-संबंधी कोई ऐसे विस्तार नहीं हैं जिनसे इस संबंध में कोई निश्चित परिणाम निकाला जा सके।

दुखहरनदास ने कदाचित् मंझन की रचना की ओर संकेत किया है, और चतुर्भुजदास की रचना की ओर संकेत नहीं किया है, क्योंकि माता से जिस प्रकार का भय पुहुपावती को मधु-मालती की कथा की ओर संकेत करके दिलाया गया है उस प्रकार का भय मंझन की कथा में ही उपस्थित हुआ है, चतुर्भुजदास की कथा में नहीं ; उलटे मालती की माँ ने चतुर्भुजदास की कथा में उसकी सभी प्रकार से रक्षा की है, और मालती के पिता ने जब उसकी माँ की उपस्थिति में मधु-मालती को मरवा डालने का संकल्प प्रकट किया तो माँ ने मालती को इसकी सूचना तत्काल भेजकर अन्यत्र चले जाने के लिये कहला दिया है।

फलतः, इन अन्य ग्रंथों में पाए जानेवाले मधु-मालती संबंधी उल्लेखों से भी चतुर्भुजदास की रचना के समय पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। चतुर्भुजदास की 'मधुमालती' की ज्ञात प्रतियों में सबसे प्राचीन सं० १७७७ की है। इसके पूर्व ही इसका रचना-काल होना चाहिए। दूसरी ओर यह बहुत प्राचीन रचना भी नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें ऐसे शब्दों का उल्लेखनीय मात्रा में प्रयोग हुआ है जो अपने तद्भव रूप में फारसी से आकर तत्कालीन लोकभाषा में प्रचलित हो गए थे। यह अवश्य है कि इस रचना पर फारसी की उस समय की शैली का प्रभाव एकदम नहीं है जिसने हिंदी प्रेम-कथा-धारा को प्रभावित किया था। इन समस्त बातों पर सम्मिलित रूप से विचार करने पर रचना विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी की ज्ञात होती है।

इस दृष्टि से हिंदी के प्रेम-कथा-साहित्य में इस रचना का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। किंतु अब तक यह रचना हिंदी में अप्रकाशित है। इसके दो गुजराती संस्करणों का पता लग सका है,[११] किंतु वे अब सर्वथा अप्राप्य हैं। इस ग्रंथ की प्रतियाँ बहुतायत से मिलती हैं, किंतु उनकी छंद-संख्याओं में बड़ा वैषम्य है, विभिन्न प्रतियों में छंद-संख्या ८५१ से लेकर २००४ तक मिलती है। ऐसी दशा में इस ग्रंथ के वैज्ञानिक पाठ-निर्धारण की आवश्यकता प्रकट है।

---

११—(१) लल्लू भाई करमचंद का प्रेस, अहमदाबाद।
(२) सखाराम मालिक सेठ, बारकोट मारकेट, बंबई।

# कतिपय राजकीय पत्र

[ श्री केसरीनारायण शुक्ल ]

लंदन के पुस्तकालयों में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों का अवलोकन करते हुए लेखक को स्वर्गीय कर्नल टाड के संग्रह में कुछ राजकीय पत्र देखने को मिले, जो साहित्यिक तथा सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए। यहाँ उन्हीं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

पत्र-लेखन की अपनी कला होती है। अन्य साहित्यिक रूप या प्रकार की आपेक्षित पत्रों का महत्त्व इसलिये अधिक होता है कि उनमें भावना की अभिव्यक्ति बहुत कुछ अकृत्रिम रूप में होती है, और उनमें एक प्रकार की विश्वसनीयता होती है कि इनपर सर्वसाधारण की दृष्टि न पड़ेगी। पत्रों की अपनी शैली भी होती है और लिखनेवाले तथा पानेवाले की सामाजिक स्थिति के अनुरूप उनमें अनुनय-विनय तथा शालीनता भी होती है। तत्कालीन गद्य की स्थिति और भाषा के रूपात्मक विकास के अध्ययन की दृष्टि से भी इनका महत्त्व है, मध्ययुगीन संस्कृति की झलक इन पत्रों में सुरक्षित है।

कर्नल टाड के संग्रह में प्राप्त पत्रों की संख्या ८६ है। इन पत्रों को 'राजकीय' शीर्षक इसलिये दिया गया है कि या तो ये राजाओं के पत्र हैं या राजाओं को लिखे गए पत्र हैं। इनका समय भी अलग-अलग है। इनमें सवाई जयसिंह, जगतसिंह, संग्रामसिंह, जनको जी सिंधिया तथा साहू जी आदि के पत्र मुख्य हैं। इनमें से अधिकांश पत्र राजस्थानी में हैं।

[ १ ]

सबसे पुराना पत्र सं० १७९५ (सन् १७३८) का है। इसे सवाई राजा जयसिंह ने महाराणा संग्रामसिंह के नाम भेजा था। उदयपुर का राणा वंश कितनी प्रतिष्ठा के साथ देखा जाता था, इसका संकेत भी मिलता है। जयसिंह संग्रामसिंह को 'हिंदुस्थान में सर्वोपरि' कहकर संबोधित करता है—

सिध श्री, महाराजाधिराज महाराजा श्री संग्रामसिंह जी जोग्य लिषंत राजा सवाई जयसिंह केन मुजरो अबवारजो अँठा का समाचार भला छै आपका सदा भला चाहीजै अप्रंच आप बड़ा छो हिंदुस्थान मै सिर छो अँठां का व्योहार मैं कही बात जुदायगी न छै अठै घोड़ा राजपूत छै सो आपका काम नै छै, ई तरफ का कामकाज होय सो हमेंसा लिखावता रहोला ओर राजा वषतसिंघ जी वा फोज म्हां की आणंद सिंघ रायसिंघ ऊपर गई छी सो हिरदै नारायण तो आप मिल्यो अर आणंदसिंघ रायसिंह की ई भाँति ठहरी ये तो दोनुं उदैपुर श्री दिवाण की हजूर रहवो करै कंही ठै जाय नहीं अर ईडर का परगना का जो गांव श्री दिवाण की त्रफ छै सो तो श्री दिवाण कै रहै अर कसवो ईडर वा ओर गांव अणंदसिंह रायसिंघ नै दोजै सो अब अणंद सिंघ रायसिंघ श्री दिवाण की हजुर आवै छै सो यां की सिवाय तस लै फुरमावैला अर नीसां लै हजुर रापैला अर ईडर की गाम आप की हद की त्रफ की सनद कर दे वाको मुसद्यानें हुकुम फरमावैला ओर कागद समाचार लिखावता रहोला मि० भादवा वदी २३ सं० १७९५ ।

इस पत्र में वर्णविन्यास की अव्यवस्था प्रत्यक्ष है। एक ही शब्द कई प्रकार से लिखा गया है—दिवाण, दीवाण; हजूर, हजुर; तरफ, त्रफ; आणंद, अणंद। अ के ऊपर ऐ की मात्रा लगाई है। 'ने' विभक्ति-चिह्न भी गुजराती के समान कर्म के लिये प्रयुक्त हुआ है। ख के लिये ष का प्रयोग प्रत्यक्ष ही है। यह मेवाड़ी बोली का अच्छा उदाहरण है। अधिकरण में 'ऊपरै' के लिये 'ऊपर' का प्रयोग हुआ है। निश्चयवाचक सर्वनाम के विकारी रूप में 'ई' प्रयुक्त है। मध्यमपुरुष बहुवचन में 'छा' और प्रथम-पुरुष एकवचन तथा बहुवचन में 'छै' है। 'रापैला', 'रहोला', 'फरमावैला' में 'ला' भविष्यत्काल के प्रत्यय 'लो' का पुंलिंग एकवचन का रूप है जो जोधपुर, पूर्व मारवाड़ और मेवाड़ में सामान्य रूप से प्रचलित है। अपभ्रंश के 'इज्जइ' प्रत्यय का विकसित रूप ही 'दीजै' में प्रत्यक्ष है, जो आदरसूचक है। 'मुजरो', 'हद', 'कागद' आदि विदेशी शब्दों का राजकाज के संबंध से ही समावेश हुआ है। 'कागद समाचार' 'चिट्ठी-पत्री' की तरह मुहावरे के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस पत्र में सवाई राजा जयसिंघ समझौता करते प्रतीत हो रहे हैं।

[ २ ]

दूसरे पत्र की लेखन-तिथि आषाढ़ वदी ४ सं० १८१६ है और इसका विषय चुनौती एवं धमकी है। बाकी का रुपया और बारूद और सीसा भेजने की माँग की गई है। ऐसा न करने पर राजा की सवारी पहले उसी स्थल पर पहुँचेगी

और मुल्क खाक हो जायगा। पत्र भेजनेवाले श्री मल्हारराव होल्कर हैं और पानेवाले जसवंतराव पंचोली–

सिध श्री सर्वोपमा जोग पंचोली श्री जसौंत राय जी जोग श्री मल्हार राव हुल्कर केन श्री···बाचजो अठारा समाचार भला है राजरा भला चाहजै अप्रंच सिरकार मैं दारु और सीसा री जरूरी घणी छै जो देखता कागद जरूर पडीया पचीस दारु और सीसो पडीया जलजह जुर भेजोगा और मामलतरा रुपीया सिरकार का बाकी छै सो सिता ब्याज सुधां सबील कराय भेजोगा ढील हुवाँ हमारी असवारी पहलां उणी ही धरती मैं आय मुल्क खाक बराबर हो जासी पहलां ही सलुक हुवाँ भली छै नीका जाणों सो करो दारु सीसा बरूद रवानै करोगा मिती आसो वदी ४ संवत १८१६।

इसमें 'केन' का संबंधकारक के चिह्न-रूप में प्रयोग द्रष्टव्य है। भाषा अधिक गठी हुई, फारसी के शब्दों का प्रयोग अधिक है। इस पत्र में पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी का रूप स्पष्ट है। इसमें संबंधकारक के प्रत्यय 'रा रो री रै' का प्रयोग हुआ है। अधिकरण के चिह्न के रूप में 'मैं' का प्रयोग हुआ है, किंतु प्रचलित बोली में 'मा' 'मायँ' का प्रयोग होता है। 'मैं' को ब्रज का प्रभाव कहा जा सकता है। भविष्यत् काल के मध्यमपुरुष बहुवचन के 'ओगा' का प्रयोग 'भेजोगा', 'करोगा' आदि में द्रष्टव्य है। भविष्यत् काल में प्रयुक्त 'जासी' मेवाड़ी या पूर्वी राजस्थानी का रूप है, किंतु बोलियों के रूप एक दूसरे में घुल-मिल जाते हैं। आदरार्थक रूप पहले पत्र में 'चाहीजै' है, किंतु इसमें 'चाहजै' है। बारूद या 'दारु' और सीसा युद्ध के उपकरण हैं जिनकी माँग की गई है।

[ ३ ]

तीसरे पत्र में राजा उमेदसिंघ का उनके लूटपाट करने पर शासन किया गया है। पत्र जनको जी सिंधिया की ओर से चैत्र सुदी ११ सं० १८१७ को लिखा गया है—

सिध श्री राज श्री राजा उमेद सिंघ जी जोग लिखावतां राज श्री सूबेदार जनकु जी सिंध्या केन श्री बांच्या अठारा समाचार भला छै तुम्हारा समाचार भला चाहीजै अप्रंच तुमेन पेड जमाकर ज्याजपुर मारया लूटा ओर पहाडसिंघ कूँ जी सै मारया गोत घाव कीया उनका कबीला बेटा बेटी कैद कर लाये सो ये काम आज ताईं किसी नै कीया नहीं सो तुमने कीया और श्री जी की बिना मरजी ये काम कीया है आगै हम जद हां आये ये तद तुमने कागद कर दीया था बिना मरजी श्री जी की कोई काम करैंगा नहीं तद आगे तुमने मेवाड़

के ग्राम मारे थे सो श्री जी के पास गुनाह माफ करायो था उस उप्रांत थे काम कीया सो सलाह का न्हीं कीया देषतां कागद के षुमाण सिंघ का कबीला बेटा बेटी पकड़े है उनकी छोड़ दीजो ज्याजपुर का माल लूट लाये सो श्री दीवाण री नजर कराया इसमें तुम्हारा साम धर्म रहता है इस बात का बो भाट थावै सो कारण न्हीं लिषे माफक नहीं करोगे तो ओलमों पावोगे ज्यादा क्या लिषे मिती चैत सुद ११ संवत १८१७।

इस पत्र की भाषा खड़ी बोली के अधिक निकट है। क्रियापद तथा अन्य रूप भी राजस्थानी के चिह्नों से अपेक्षाकृत मुक्त हैं। 'ने' का प्रयोग यहाँ कर्ता कारक के विभक्ति-चिह्न के रूप में हुआ है। राजस्थानी में 'ने' का प्रयोग कर्म तथा संबंध के लिये होता है। कर्ता कारक में 'ने' का प्रयोग उसे खड़ी बोली के निकट लाता है। 'ने', 'नै' आदि इसके अव्यवस्थित रूप की ओर संकेत करते हैं, जो भाषा में उस समय तक रहता है जब तक कि उसका कोई टकसाली साहित्यिक रूप स्थिर नहीं हो जाता। भाषा मुहाविरेदार, चलती हुई और सशक्त है। 'ओलभो' उपालंभ का इतिहास बता रहा है। आजकल के अंगरेजी के शब्द 'जिनोसाइड' ( Genocide ) की तरह 'गोतघात' शब्द कुटुंब-कबीला के नाश के लिये प्रयुक्त हुआ है।

[ ४ ]

एक पत्र संवत् १८७५ का प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमें राजकीय मर्यादा एवं शिष्टाचार का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पत्र उदयपुर के राणा को लिखा गया है। लेखक मुंशी हिमतराय हैं। संबोधन-शैली दर्शनीय है—

सिध श्री श्री १०८ श्री श्री श्री अनदाता जी एकलिंग अवतार हजूर सुं देवगढ़ सूं षानाजाद चाकर मुनसी हिमतराय को कुरनस बजाय धरती हाथ लगाय मुजरो अरज मालम होवै राज अठारा समाचार श्री (......) जी रा प्रताव करे भला छै श्री जी रा षान पान केसर कस्तूरी गंगाजल औरोग्य वाका घणा जतन रषावारो हुकम होवै राज षानाजादा ऊपर सदा सुभ निजर फरमावै ती सुं विसेस फरमावारा हुकम होसी राज अप्रंच श्री अनदाता जी सलामत षानाजादा महासुद २ बुधरै दिन देवगढ़ पुहनो अर महासुद ३ गुरु रै दिन रावत जी गोकुलदास सुं मिल्यो श्री दरबाररो षास दसकतारो हुको थो सो दियो रावत जी गोकुलदास जी कहब लागा सौ म्हारौ तो श्री पांवदारा हुकम री बात है पण म्हारौ सरीर भी ओ जाई पूरो बाहक आराम हुवो नहीं छै अर उधार वालां दैयाळै बावालारो भी एक ही राह बण्यो नही छै तीसूं म्हे श्री श्री दरबार हजूर वा म्हांरा कामै ती उठे है, जणा ने

सारो सरूप समाचार लिष मेलां छां सो श्री दरबार हजूर वारा समाचार सब अरज कर देशी सो श्री षांवदारी मरजी होसी वा हुकम करसी जणी माफक हाजर छां तींसुं अठारा सरूप समाचार रावत जी श्री गोकलदास जी भी हाजर हैगा अर षानाजाद भी करै राज षानाजाद तो रावंत जी श्री गोकलदास जी सुं कही सो श्री दरबार रो हुकम छे सो आपरे पधारवा की मरजी हौवै जद तो थारै मेरो करावजै अर नहीं पधारवा की मरजी होवे तो मनै सीष दीजै हूँ षण्याती रै पाछो जाऊँ जद रावत जी कहवा लागा सो थे पाँच दिन ठीरा रहो सो म्हे श्री दरबार हजूर अरज लिषां छां वा म्हारे कामे ती है जणा हैं थारो सरूप लिषछां सो श्री अनदाता जी हजूर मालम करसी सो श्री षांवदारी मरजी होसी अर हुकम करसी जणी माफक हाजर छां तींसुं अनदाता जी रो पाछो जाब अगां हलकारां री लार आवैगो तीं माफक रावत जी करेगा राज रावत जी तो श्री षांवदारो हुकम माथा ऊपर राषै छै राज अर श्री अनदाता जी रो हुकम मरजी हौवै जणी माफक आवैगा तीं माफक षानाजाद करै राज सुभ निजर फरमाव षानाजाद ऊपर परवानो इनायत होसी राज सवंत १८७५ महासुद ४ सुक्र।

राजकीय शिष्टाचार का इस प्रार्थनापत्र में पूरा-पूरा पालन हुआ है। लेखक अपने को बराबर 'षानाजाद' अर्थात् घर का गुलाम कहता है और कोर्निश बजाकर श्री दरबार के 'हुकम' को मस्तक के ऊपर रखता है। इस पत्र में पश्चिमी और पूर्वी राजस्थानी का मेल है। संबंधवाचक चिह्न 'रा', 'रो' आदि पश्चिमी राजस्थानी के हैं, 'करसी', 'होसी' आदि क्रिया के रूप पूर्वी राजस्थानी या मेवाड़ी के हैं। इसी के समकक्ष 'हैगा', 'आवैगो' आदि रूप पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी के हैं। क्रियार्थक रूप 'नो' का विकारी रूप 'वा' होता है, जैसे पधारवा', 'कहवा आदि'। ब्रजभाषा में क्रियार्थक में 'बो' रूप मिलता है।

[ ५ ]

इन्हीं पत्रों में एक सांत्वना-पत्र है जो खड़ी बोली में है और संवत् १७९४ का है। पत्र संक्षिप्त है और कदाचित् अपूर्ण है। राणा अमरसिंह की माता के निधन पर निसान शाहजादा अजीमुद्दीन द्वारा यह पत्र लिखा गया है। इसे तीन जगह लिखा गया है और पत्र की तीन प्रतिलिपियों में कुछ घटाबढ़ी है—

पहली प्रतिलिपि

राना अमर सिंघ जी कौं माल्रुम होवै तुम्हारी अरज दासत पुहची तुम्हारी मा की षबर सुन जी दिलगीर हुआ षुदा सुं रूम चारा हमारी मकासती न्याहो राजा रायसिंघ नै तुम्हारी अरजें कही तुम हमारे हो षात्र जमा राषो हमारो मेहरबी बजाय लावो तुमारे वकों की

बडी ठोर तुमै दी वायेगी बंदगी बजाय लावने का वषत यही है ओर हकीकत तुमारे आद-मियों की जुबानी जाहिर होयगी हमै अपनी याद मै जानो।

### दूसरी प्रतिलिपि

॥ श्री ॥

महाराना जी कौं मालूम होवै अरजदास्त पहुची हकीकत मालूम हुई तुमै अपना जानते हैं तुमारे काम पर हजरत की षिजमत मै अरज कर मली भाँति सुरत दीजो की हमारी तरफ सें षात्र जमा राषीयो और हकीकत राजपूतां की भागमल उकील की जुबानी मालुम होवेंगी हमैं सदा अपनी याद मैं जानीयो।

### तीसरी प्रतिलिपि

॥ श्री ॥

महाराना जी कौं मालुम हावै तुम्हारी अरजदास्त पुहची हकीकत मालुम हुई राजपूतां काम भली माँति कर आया है उकीलों की जुबानी मालुम होवैगी हमैं सदा अपनी याद जानीयो।

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी कारण प्रतिलिपिकार पूरा पत्र नहीं लिख सका, उसने तीन बार चेष्टा कर पत्र को अधूरा छोड़ दिया। फिर भी पत्र की भाषा सुष्ठु और चलती हुई घरेलू बोली का पुट लिए है। खड़ी बोली का रूप स्पष्ट है।

[ ६ ]

अब एक पत्र छत्रपति साहु जी का उद्धृत किया जा रहा है, जो महाराज जगतसिंह को लिखा गया है। पत्र संस्कृत में है और लेखन-तिथि अज्ञात है। संस्कृत में लिखे जानेवाले पत्रों का इससे अच्छा परिचय प्राप्त होता है। दीर्घ-समास-बहुल शैली दर्शनीय है—

स्वस्ति श्री मत्सकलामस्वर्यनिकर यशर कर करुणकर परमेश्वर सवूर प्रवर क्षत्रिय कुल रत्नाकर पीयूष करेषु सराजि रवि जितोदार रिपुवधू नयन नीर पूर सागर संभूत यसो रमा राममंदिरेषु शौर्योदार्यादि समस्त सद्गुण प्रवर मुखरित भूसुर मुनिवर कामदेंदु द्रुमेषु श्री मन्महाराज साहु छत्रपति नृपतीनामानंदोदंतोदग निरूपकोयं पत्र दूत राम च ंत्य श्री कृपया तत्रत्य सतंत वितत मेघमान मासास्मद्दे प्रतिक्षणं स्वीया रखिलवृत लेखनात्प्रमोदो विधेयःऽ न्यच्चराज श्री पंडित प्रधानेषु श्री मद्विषयंक माज्ञापंत्र सादर कृतमस्ति तेपि तत्रानंतरायतरा भविष्यन्ति राज श्री उदयसिंह रावत विषंय उतेष्ठिादित मारभ्य तथा तथैव सु प्रसादोधिकतरो नित्यंमिथो अनपायिनी प्रीतिरधिकतरा विलसतामित्यलं पल्लवितेन।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इन पत्रों के समान अन्य बहुत-से पत्र देश के कोने-कोने में छिपे पड़े होंगे, जिनमें विषयों की भिन्नता होगी। इनका संग्रह और अध्ययन भाषा, भाव तथा शैली सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

# हिंदी और अंग्रेजी

[ श्री चार्ल्स नेपियर ]

हिंदी भाषा के विकास का विषय लेकर लोग बहुत-कुछ लिख चुके हैं और लिखते भी रहते हैं। प्रत्येक पत्रिका के प्रत्येक अंक में इस विषय पर कोई न कोई लेख हमारे सम्मुख उपस्थित रहता है; जैसे—राष्ट्रभाषा हिंदी, साहित्यिक भाषा हिंदी, हिंदी की आवश्यकताएँ इत्यादि। यहाँ तक कि इस विषय का एक स्वतंत्र साहित्य बन गया है। इसे अधिक बढ़ाने के लिये मेरे पास एक ही बहाना है कि मेरे ध्यान में एक महत्त्वपूर्ण बात है जिसको हिंदी के साहित्यिक या तो भूल जाते हैं या जिसपर विचार करते समय वे भ्रम में पड़ जाते हैं। वह बात है—हिंदी-लेखकों पर अंग्रेजी के अध्ययन का प्रभाव।

भारत में हिंदी और अंग्रेजी गद्य का प्रादुर्भाव और विकास कैसे हुआ, यह सब लोग जानते हैं और यहाँ इसकी रामकहानी सुनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्नीसवीं शती के आरंभ से पहले हिंदी गद्य बहुत कम लिखा जाता था। उस के बाद यूरोपीय सभ्यता के आक्रमण के कारण भारत में हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं के गद्य का प्रयोग होने लगा और समय के साथ-साथ दोनों का विकास होता रहा। दुर्भाग्यवश शासन और शिक्षा के क्षेत्रों में अंग्रेजी का प्रयोग बढ़ता गया और इस कारण हिंदी की उन्नति और विकास में भयंकर बाधा पड़ी। हम जानते हैं कि आज भारत में हिंदी का प्रयोग अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है, जिसे हम हिंदी का सौभाग्य समझते हैं। निस्संदेह हिंदी का एकाएक विकास असंभव है। हम कठिनाइयों से अवगत हैं और उनको दूर करने के लिये बहुत से उपाय सुन चुके हैं। हिंदी के इस विकास पर भारत में अंग्रेजी के अध्ययन का प्रभाव मेरे इस लेख का विषय है।

हिंदी जितनी अधिक और अंग्रेजी जितनी कम काम में लाई जायगी, उतनी ही शीघ्रता से हिंदी का विकास होगा। हिंदी का प्रयोग जितने विस्तार के साथ हो सके, होना चाहिए। शिक्षा का माध्यम किसी स्तर पर अंग्रेजी नहीं रहना चाहिए।

पाठ्य पुस्तकों और शब्दावली की भी कुछ न्यूनता है जिसको हमें पूरा करना होगा। ये सब साधारण बातें हैं जिनको हिंदी के सब प्रेमी मानते हैं। तिसपर भी भारतीय विद्वान् और साहित्यिक लोग अंग्रेजी को अपनी छाती से लगाए हुए हैं। उन्हें विशेष गर्व है कि हम दो-भाषा-भाषी—दो क्या, अनेक-भाषा-भाषी हैं। यद्यपि वे अधिकतर हिंदी में लिखते हैं, तो भी अंग्रेजी अधिक पढ़ते हैं। हिंदी भाषा और शैली ने अंग्रेजी भाषा और शैली का कितना अनुसरण किया है, यहाँ मेरा इससे कोई प्रयोजन नहीं। वह तो पुरानी बात है। यहाँ तो मेरा प्रयोजन हिंदी लेखकों की केवल इसी धारणा से है कि हिंदी लिखने के लिये अंग्रजी का अध्ययन उपयोगी ही नहीं, अनिवार्य है। क्या स्वराज्य-प्राप्ति के पश्चात् वे अंग्रेजी को छोड़कर हिंदी पर अधिक ध्यान देने लगे हैं? नहीं, बल्कि इसके प्रतिकूल उनमें नए उत्साह के साथ कई और भाषाओं का अध्ययन करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। वे फ्रांसीसी और रूसी साहित्य के रंगमहलों में विहार करते हैं और बेचारी हिंदी उपेक्षा सह-कर अपनी कुटी में पड़ी रहती है। अंग्रेजी, फ्रांसीसी और रूसी भाषाओं के विशेषज्ञ भारत में अवश्य होने चाहिएँ, किंतु हिंदी लेखकों की यह धारणा कि विदेशी भाषा सीखने से अपनी भाषा पर उनका अच्छा अधिकार जम जायगा, कैसी विचित्र है! श्री रामचंद्र वर्मा का भी ऐसा विचार है—"जो लोग अच्छे लेखक बनना चाहते हों, उन्हें अपनी भाषा के अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाओं का भी ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए······और जहाँ तक हो सके, अधिक से अधिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए" ('अच्छी हिंदी', छठा संस्करण, पृ० २६)। श्रद्धेय वर्मा जी जैसे प्रवीण कोशकार और हिंदी के सेवक को, जिनके श्रेष्ठ कोश के सहारे मैं यह लिख रहा हूँ, मैं आदर का पात्र समझता हूँ। तो भी मुझे कहना पड़ेगा कि उनका यह कहना मुझे बिलकुल असंगत जँचता है। शायद उन्होंने कहीं देखा होगा कि अच्छी अंग्रेजी लिखने के लिये लैटिन सीखना आवश्यक है। यह पुराना विचार है, और उसमें कुछ सत्य भी है, तो स्मरण रखिए कि अंग्रेजी और लैटिन का संबंध बहुत ही घनिष्ठ है तथा इन भाषाओं की सांस्कृतिक भूमिका एक ही है। भारतवासियों को यदि ऐसी भाषा सीखनी हो तो संस्कृत सीखनी चाहिए। किंतु स्पष्ट है कि बहुत से लोग वर्मा जी से सहमत हैं और ऐसा विचार रखते हैं कि जितना अधिक वे अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा रूसी का अध्ययन करेंगे उतना ही अधिक उनका हिंदी पर अधिकार होगा। मेरी समझ में जब तक हिंदी में एक ऐसे प्रतिभाशाली लेखक का उदय न हो, जिसे अंग्रेजी या किसी और विदेशी भाषा का ज्ञान न हो, तब तक हिंदी गद्य का

पूर्ण विकास नहीं हो सकेगा। एक ही क्या, जब ऐसे लेखकों की पूरी परंपरा होगी, तभी हिंदी भाषा की अवस्था संतोषजनक हो सकेगी। मैं भली भाँति जानता हूँ कि अंग्रेजी भाषा के भक्तों को मेरा यह कहना वैसा ही बुरा लगेगा जैसा तुलसी को मर्यादा-पुरुषोत्तम पर आक्षेप। उनसे मैं उनकी इष्ट देवी अंग्रेजी का अपमान करने के लिये क्षमा माँगता हूँ।

यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं अंग्रेजी भाषा का निषेध कर रहा हूँ, अंग्रेजी साहित्य का नहीं। अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन हिंदी अनुवादों के द्वारा किया जा सकता है, जैसा कि रूसी और फ्रांसीसी साहित्यों का अध्ययन अंग्रेजी अनुवादों के द्वारा होता है। लोग कहेंगे कि ऐसे अनुवादों का अभाव सा है, अतएव इसकी पूर्ति के लिये हिंदी लेखकों को अंग्रेजी के ज्ञान की आवश्यकता है। हाँ, अनुवादक के लिये अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य है, लेकिन अनुवादक और मौलिक लेखक एक ही मनुष्य क्या, एक ही प्रकार के मनुष्य भी नहीं होते। अनुवादक को दो-भाषा-भाषी होना चाहिए। उसका कर्तव्य है दो भाषाओं का मध्यवर्ती होकर उनका पारस्परिक संबंध स्थापित करना। इसके प्रतिकूल मौलिक लेखक को अपनी एक ही भाषा में लीन हो जाना चाहिए, अपनी भाषा का निरंतर प्रयोग और समीक्षा करते-करते उसकी बारीकियों को पकड़ने की क्षमता प्राप्त करनी चाहिए। संसार के सर्वश्रेष्ठ लेखकों ने सदा ऐसा ही किया है। अवश्य एकाध विख्यात लेखक विदेशी-भाषाविज्ञ होकर अपवाद-स्वरूप हैं। लेकिन इस बात से यह मनमाना निष्कर्ष निकालना कि वे विदेशी भाषा के ज्ञान के कारण ही अच्छे लेखक थे, और इसलिये यह सोचना कि अच्छा लेखक बनने के लिये विदेशी भाषा सीखना आवश्यक है, बिल्कुल गलत है। अंग्रेजी के दो एक विख्यात लेखक कुशल नाविक थे, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि श्रेष्ठ लेखक बनने का सुंदर उपाय समुद्री यात्रा करना है। निस्संदेह लेखक समुद्र की यात्रा और विदेशी भाषा के ज्ञान, दोनों से कुछ न कुछ सीख सकता है। यों तो संसार के हरएक अनुभव से लेखक सीख सकता है। गदहे को भी आँगन में बाँध रखकर कुछ सीखा जा सकता है। किंतु ये सब बातें लेखन-कला का मूल सिद्धांत नहीं है। लेखन-कला का मूल सिद्धांत है अपनी ही भाषा में पढ़ना सोचना और लिखना, उसी में लीन होना।

मेरा विरोध है अंग्रेजी भाषा से, और इस विरोध का संबंध उन लोगों से है, जो हिंदी भाषा में मौलिक रचनाएँ करने की आकांक्षा रखते हैं। अब मैं इस विरोध का कारण विस्तार से बताऊँगा।

मैं समझता हूँ कि महापुरुष, या वे मनुष्य जिनमें महापुरुषत्व का बीज उपस्थित है, हरएक युग में उत्पन्न होते हैं। कुछ ऐसे युग हैं जिन्हें हम महानता के युग कह सकते हैं; जैसे, इंगलैंड में एलिजबेथ का युग। इस विशेष महानता का कारण मेरी समझ में युग का वातावरण है। मनोवैज्ञानिकों तथा अन्य शास्त्रों के ज्ञाताओं ने अभी तक यह नहीं बताया कि पृथ्वी पर मानवीय प्रतिभा समय-समय पर लहर के रूप में उमड़ आती है, और जब तक ऐसा न बताया जाय, हमें अनुमान करना चाहिए कि महान् प्रतिभा के बीज हमेशा भूमि-तल पर इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं और जब अनुकूल वातावरण स्वरूप वृष्टि और सूर्य का लाभदायक प्रभाव इन बीजों को पुष्ट कर देता है तब इनसे महापुरुष उत्पन्न होते हैं। यदि यह सच है तो आज भारत के हिंदी-भाषाभाषियों में साहित्यिक महापुरुषों के बीज उपस्थित हैं। जब वातावरण अनुकूल होगा तब इनकी प्रतिभा विकसित होगी। आप इन बातों से अनुमान कर सकते हैं कि मेरी समझ में अब तक हिंदी का कोई आधुनिक लेखक संसार भर के मान्य लेखक की पदवी प्राप्त करने योग्य नहीं हुआ।

मौलिक लेखक के वातावरण के दो पक्ष होते हैं—एक सांसारिक और दूसरा साहित्यिक। पहला पक्ष है वह समाज जिसमें वह रहता है, तथा उसकी भौतिक परिस्थितियाँ; दूसरा वह साहित्य है—चाहे वह लिखित हो या मौखिक—जो उसके मन को पुष्ट करता है। सांसारिक वातावरण अनुकूल अवश्य होना चाहिए, किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि लिखने के लिये जीवन आराम के साथ निबाहने का अवसर होना आवश्यक है। प्रायः संसार की चिरस्थायी रचनाएँ ऐसी अवस्था के अभाव में ही उत्पन्न हुईं। मेरे विचार में आधुनिक भारत में लेखक के लिये सांसारिक वातावरण यदि रामराज्य जैसा नहीं है तो यह कोई विशेष बाधा नहीं है। मुझे आशा नहीं कि लेखकवर्ग मेरे विचार से सहमत होगा। पर लेखक न कभी संतुष्ट रहे और न कभी होंगे। और हाँ, शायद उन्हें कभी संतुष्ट होना भी नहीं चाहिए।

साहित्यिक वातावरण जबतक यथेष्ट पुष्ट न हो तब तक प्रौढ़ रचनाएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। पढ़ते-पढ़ते हममें लिखने की आकांक्षा की पहली रेखा चमक उठती है और पढ़ते-पढ़ते हमारी शैली का भी निर्माण होता जाता है। शैली का कुछ भाग मौलिक होता है और कुछ अनुकृत। सभी कलाओं में अनुकरण की कुछ मात्रा होती है, या यों कहिए कि संसार के हरएक व्यवसाय और चेष्टा में अनुकरण उपस्थित है, भले

ही हम अपनी मौलिकता के मोह में मग्न होकर उसके अस्तित्व का खंडन करना चाहें। इसमें संदेह नहीं कि मौलिक तत्त्व अनुकृत तत्त्व से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अब देखिए, हिंदी लेखक का साहित्यिक वातावरण क्या है और वह लेखक पर क्या प्रभाव डालता है। आधुनिक हिंदी साहित्य अल्प परिमाण का नहीं है और दिन-प्रति-दिन बढ़ता चला जा रहा है। इतना होने पर भी आधुनिक हिंदी साहित्य का अधिकांश भाग प्रौढ़ नहीं है, और जो भाग प्रौढ़ सा है, वह ऐसा प्रौढ़ और परिमार्जित नहीं है जिसको पढ़कर साहित्य के मर्मज्ञ भारतीय पाठक तृप्त हो सकें। इस हेतु, तथा शिक्षा का माध्यम अनिवार्य रूप से अंग्रेजी होने के कारण, वे लोग अंग्रेजी साहित्य को ग्रहण कर अपनी साहित्यिक भूख मिटाते हैं। अंग्रेजी साहित्य के अतिरिक्त रूसी तथा फ्रांसीसी साहित्यों को भी अंग्रेजी अनुवादों के द्वारा पढ़ते हैं। ऐसा करके वे संसार के आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं से परिचित हो गए। मालूम होता है कि उन्होंने इस संपर्क से बहुत लाभ उठाया है और अब भी वे इससे अलग होना नहीं चाहते।

आप कहेंगे कि यदि मैं मानता हूँ कि इससे लाभ हुआ तो फिर मुझे आपत्ति क्यों है? मेरे विरोध के दो कारण हैं।

पहला कारण है, विदेशी भाषा सीखने का मानसिक परिश्रम। हिंदी भाषाभाषी के लिये बंगाली या संस्कृत भी सीखना कोई विशेष बात नहीं है, जैसे कि अंग्रेजी-भाषाभाषी के लिये फ्रांसीसी या लैटिन सीखना। किंतु किसी भारतीय के लिए अंग्रेजी सीखना या किसी अंग्रेज के लिये भारतीय भाषा सीखना दूसरी बात है। हम जानते हैं कि अंग्रेजी और हिंदी कोई चार सहस्र वर्ष पहले एक ही मूल भाषा से उत्पन्न हुईं, तो भी वे आज बिल्कुल भिन्न और असंबद्ध जान पड़ती हैं। उनकी गठन और शब्दावली भिन्न हैं। उनकी संस्कृति, जलवायु, धर्म तथा इतिवृत्त स्वरूप भूमिकाएँ भी भिन्न हैं। इन कारणों से किसी भारतीय के लिये ज्ञान और निपुणता की उस सीमा तक अंग्रेजी सीखना जिस सीमा तक अधिकांश पढ़े-लिखे भारतीय उसे सीखते हैं, परिश्रम मात्र ही नहीं, किंतु अपनी मानसिक शक्ति पर एक भारी बोझ लादना है। लोग यह समझना चाहते हैं कि यही कठिन कार्य पूरा करके उन्होंने अपने साहित्यिक सामर्थ्य को पुष्ट कर लिया। ऐसा करके उन्होंने अपना साहित्यिक दृष्टिकोण अवश्य विस्तृत कर लिया, किंतु अंग्रेजी सीखने

तथा उसी भाषा में विस्तार के साथ पढ़ने के प्रयत्न का मूल्य है—बेचारी हिंदी में निर्माण-शक्ति के वास्तविक मौलिक प्रस्फोटन का अभाव।

एक बात और है। जब किसी देश की भाषा का साहित्य पर्याप्त मात्रा में प्रौढ़ न हो, तो बहुत संभव है कि प्रौढ़ साहित्य से संपन्न विदेशी भाषा सीखकर और उसी से मुग्ध होकर लोग अपनी ही भाषा और साहित्य की उपेक्षा, यहाँ तक कि अवहेलना भी करें। ऐसा आचरण आधुनिक भारत में दिखाई देता है, पर उस-पर मैं जोर देना नहीं चाहता, क्योंकि यहाँ मेरा प्रयोजन उन लोगों से है जो हिंदी से प्रेम रखते हैं और उसकी कुछ सेवा करना चाहते हैं, उन लोगों से नहीं जो हिंदी छोड़कर अपनी भाषा अंग्रेजी मानते हैं।

अब मैं विरोध का दूसरा कारण बतलाता हूँ। हिंदी-भाषाभाषी हिंदी का और अंग्रेजी-भाषाभाषी अंग्रेजी का जितना गहरा ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उतना गहरा ज्ञान हिंदीभाषी अंग्रेजी का और अंग्रेजीभाषी हिंदी का नहीं प्राप्त कर सकते। मैं अंग्रेजी भाषा सीखने में भारतीयों के आश्चर्यजनक सामर्थ्य का तनिक भी निरादर नहीं करना चाहता। कदाचित् ही मनुष्य जाति के इतिहास में किसी देश के इतने लोगों ने इतनी दूर की विदेशी भाषा पर इतनी सफलता पाई हो जितनी अंग्रेजी पर भारतीयों ने प्राप्त की है। उनका अंग्रेजी का ज्ञान एक उद्देश्य छोड़कर अन्य सब उद्देश्यों के लिये यथेष्ट है। और वह उद्देश्य है, भाषा का सबसे उत्तम अर्थात् साहित्यिक उद्देश्य। हाँ, इस प्रयोजन में भी उनका अंग्रेजी का ज्ञान बहुत-कुछ काम में आता है, पर मुझे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनका अंग्रेजी का ज्ञान कितना ही पर्याप्त क्यों न हो, वह अंग्रेजी भाषा की अधिकांश बारीकियों तक नहीं पहुँच सकता। साहित्यिक शैली की प्रौढ़ता और विभिन्नता तथा शब्दों के सूक्ष्म अर्थ एवं उनके प्रयोग में विवेचन-पूर्वक चुनाव—ये सब अंग्रेजी भाषा के परम शोभान्वित गुण हैं। 'वॉर ऐंड पीस' ( War and Peace ) या मैडेम 'बॉवरी' ( Madame Bovary ) की टक्कर का हमारा कोई उपन्यास शायद न हो, न हमारे साहित्य में कोई ऐसी कहानी है जो रूसी और फ्रांसीसी कहानियों का मुकाबला कर सके। किंतु हमारी भाषा ऐसी विकसित और परिमार्जित भाषा है जिसके शब्दों में न केवल अर्थ है, और न केवल अर्थ की सूक्ष्मता है, अपितु अर्थ के परे वे अनिश्चित भाव-प्रद गुण भी यथेष्ट मात्रा में हैं जिनको फ्रांसीसी में 'न्युआंस' ( Nuance ) कहते हैं। और हमारे यहाँ ऐसे लेखक उत्पन्न होते आए हैं जिन्होंने इसी भाषा

की बाँसुरी पर परम अधिकार प्राप्त करके ऐसी तान सुनाई कि गोपियाँ क्या, तीन लोक अवाक् रह गए। भारतवासियों को हार्डी ( Hardy ) के उपन्यास प्रायः अच्छे लगते हैं। यदि किसी भारतवासी से पूछिए कि उन उपन्यासों में कौन-कौन सी बातें विशेष रुचिकर हैं, तो उत्तर मिलेगा—कथा, देहाती जीवन के चित्र, चरित्र-चित्रण या हार्डी के दार्शनिक विचार। हार्डी की भाषा और शैली के विषय में वे मूक होते हैं, क्योंकि उनकी पहुँच वहाँ तक नहीं होती। किंतु हार्डी की भाषा और शैली ही शायद हार्डी की परम शोभा है और इसी से वह इंगलैंड का परम प्रवीण लेखक है, उपन्यासकार के रूप में उसका स्थान इससे कुछ नीचा माना जाता है। लेकिन भारतवासी विदेशी होने के कारण उसकी इस शोभा की परख नहीं कर सकते। शायद उपन्यासकार के गुणों और लेखक के गुणों में जो भेद होता है वह हिंदी-लेखकों को अब तक स्पष्ट रूप से नहीं सूझा है। वे बड़ी चुस्ती के साथ उपन्यास-निर्माण करते चले जाते हैं और इसपर बहुत ध्यान देते हैं कि कथा, चरित्र-चित्रण, विचार इत्यादि कैसे होने चाहिएँ। किंतु उपन्यास के माध्यम अर्थात् भाषा पर वे एकाध दृष्टि डालकर ही छुट्टी पा लेते हैं। इंगलैंड में भाषा उपन्यास की सखी है, भारत में दासी।

अंग्रेजी जैसी विकसित और परिमार्जित भाषा का पर्याप्त गुणग्रहण अधिकांश अंग्रेज लोग भी नहीं कर सकते, जो अपने जन्म से ही इस भाषा को सीखते हैं, जो अपनी तोतली बोली में पहलेपहल इसका प्रयोग करते हैं, जो अपने बचपन भर इसकी अधसमझी बातें सुनते रहते हैं और जिनकी तथा अंग्रेजी भाषा की सांस्कृतिक और धार्मिक भूमिका एक ही है। कदाचित् वे भारतीय जिनका साहित्यिक सामर्थ्य उत्तम श्रेणी का है और जो अपनी भाषा का त्याग करके अंग्रेजी में तन्मय रहते हैं, भारतीय होकर भी अंग्रेजी भाषा का पर्याप्त गुणग्रहण कर सकते हैं। किंतु हिंदी लेखकों को विशेष गर्व इस बात का है कि वे दो-भाषाभाषी या अनेक-भाषाभाषी हैं और वे कोई बात हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में पढ़ और लिख सकते हैं। ऐसा वे कर सकते हैं, किंतु इसका कुछ मूल्य चुकाना पड़ता है। वह मूल्य है—साहित्यिक गहराई का विनाश, भाषा की बारीकियों को पकड़ने की शक्ति का विनाश, हिंदी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में।

दुर्भाग्यवश भारतीय अंग्रेजी का बड़ा सम्मान करते हैं, और आज भी इस सम्मान में कुछ भी कमी नहीं दिखाई देती। अंग्रेजी, शिक्षा का अनिवार्य माध्यम

तो नहीं रह गई है, लेकिन पढ़े-लिखे भारतीय महाशयों के लिये वह अभी तक आवश्यक समझी जाती है। न केवल अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक समझा जाता है, अपितु अंग्रेजी विश्वविद्यालय की डिग्री भी प्राप्त हो तभी ज्ञान और समाज के कैलास-शिखर पर स्थान मिलता है। अंग्रेजी नए युग का जनेऊ है, जिसके बिना आदमी का कोई आदर नहीं होता। जब तक भारतीय इसके मोह से न छूटेंगे, जब तक वे अपनी सांस्कृतिक स्वतंत्रता पर इतना गर्व न करेंगे जितना कि अपने राजनीतिक स्वराज्य पर, तब तक हिंदी का पूर्ण विकास नहीं हो सकेगा।

मैं इस बात पर जोर देना चाहता हूँ कि मैं भारत से अंग्रेजी को उखाड़ फेंकने का समर्थन नहीं कर रहा हूँ। कई क्षेत्र हैं जहाँ अंग्रेजी का ज्ञान उचित तथा उपयोगी है और कई ऐसे क्षेत्र भी हैं जहाँ अभी तक वह अनिवार्य है। ऐसे लोग भी हैं जिनकी विशेष रुचि और कार्यक्षेत्र अंग्रेजी भाषा और साहित्य है। मेरे विचार में उन्हीं लोगों को अंग्रेजी की श्रेष्ठ रचनाओं का हिंदी अनुवाद करने में लगे रहना चाहिए, इसलिये कि उनके भाई अंग्रेजी भाषा सीखे बिना अंग्रेजी साहित्य से संबंध स्थापित कर सकें; और जो हिंदी साहित्य के निर्माता हैं उन्हें दो-भाषाभाषी होने के गौरव का मोह छोड़कर जो समय, परिश्रम तथा मानसिक शक्ति वे अंग्रेजी पर खर्च करते हैं उसे हिंदी के चरणों में समर्पित करना चाहिए। यही मेरा सुझाव है और यही मेरी हार्दिक अभिलाषा भी है। दुर्भाग्यवश हिंदी लेखक कौन लोग हैं यह परमेश्वर ही जाने। आजकल लोग ऐसा समझते हैं कि कोई भी आदमी स्वच्छ हिंदी लिख सकता है। हिंदी का कुछ ज्ञान, हिंदी का कुछ अध्ययन, साहित्यिक सामर्थ्य, कोश, व्याकरण, किसी की भी आवश्यकता नहीं। आवश्यक बस यह है कि कलम उठाकर कुछ मनमाने लिख डालो। मेरी समझ में यदि कई प्रतिभाशाली साहित्यिक भारतवासी और सब कुछ छोड़कर हिंदी में ही तन्मय हो जायँ—ऐसे लोग जो हिंदी पढ़कर नए विचार प्राप्त कर सकें और हिंदी में लिखकर नए विचारों का प्रचार कर सकें, ऐसे लोग जो हिंदी में ही बोलें, सोचें, पढ़ें, लिखें और स्वप्न देखें—तभी हिंदी साहित्य स्वतंत्र, प्रभावपूर्ण और ओजस्वी हो सकेगा।

मनुष्य जाति के इतिहास में बहुत काल तक भारतीय साहित्य, संसार के किसी भी और साहित्य से अधिक विस्तृत, प्रौढ़, मौलिक, मनोहर, मार्मिक और

गंभीर था। वे दिन फिर आएँगे, इसमें कोई संदेह नहीं, क्योंकि भारत नए साहित्यिक उद्गम के लिये तैयार है, तथा भारत के निवासी संसार के सर्वोपरि योग्य लोगों में हैं। लेकिन हमें इसपर पूरी तरह विचार करना चाहिए कि साहित्य-निर्माण के लिये कौन सी परिस्थितियाँ आवश्यक हैं, और हमें स्मरण रखना चाहिए कि दो-भाषाभाषी होना पेट पालने के लिये अच्छा साधन है, किंतु मौलिक रचनाओं के निर्माण के लिये अपनी निज भाषा का पर्याप्त और गंभीर ज्ञान, दो-एक भाषाओं के सामान्य परिचय से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

# हिंदी भाषा के स्वरूप पर आघात की समस्या

[ श्री राजबली पांडेय ]

आज हिंदी भाषा के स्वरूप पर तीन प्रकार के आघात हो रहे हैं। प्रथम प्रकार का आघात आंतरिक है। राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में सामूहिक चेतना उत्पन्न होने से अधिक से अधिक लोग अपनी आवश्यकताओं की माँग और अपने भावों की अभिव्यक्ति करने लगे हैं। इनमें बहुत से लोगों की भाषा और साहित्य संबंधी कोई शिक्षा और अभ्यास नहीं है और न वे पुराने समाज के उन अभिजात परिवारों में पले हैं, जिनमें बिना किसी स्कूली शिक्षा के भी परंपरागत भाषा और साहित्य का वातावरण बना रहता है। इस परिस्थिति में अधिकाधिक ग्रामीण, देशज और मनगढंत शब्दों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि एक ओर तो हिंदी का प्रादेशिक रूप दूसरे प्रदेशवालों के लिये समझने में कठिन होता जा रहा है, दूसरी ओर उसकी सफाई और सुंदरता पर भोंडेपन और गँवारपन का आवरण चढ़ता जा रहा है। इस परिस्थिति में भाषा के ग्राम्यीकरण की आशंका दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। यदि भाषा के परिष्कृत और खड़े स्वरूप का ध्यान नहीं रखा गया तो बहुप्रदेश-सुलभ हिंदी का रूप विकृत हो जायगा और प्राचीन तथा मध्यकालीन प्राकृतों की तरह हिंदी कई देशज अपभ्रंशों में बिखर जायगी। आज के युग की भाषा जनसुलभ होनी चाहिए, इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। परंतु एक ओर जहाँ अक्षर और भाषा को जनता के निम्नतम स्तर तक पहुँचाना है, वहाँ उस स्तर के जनों को उनके वर्तमान संकुचित वातावरण से उठाकर शिक्षित करना और अपेक्षाकृत अधिक उन्नत और शिक्षित पड़ोसियों के बौद्धिक संपर्क में भी ले आना है। यदि सरल भाषा के परिष्कृत और खड़े रूप का संरक्षण नहीं किया गया तो भाषा के ग्राम्यीकरण की आशंका उसके लिये एक महान् संकट के रूप में उपस्थित हो जायगी।

यह कहना कि हिंदी भाषा के तीन रूप होंगे—देशज, प्रादेशिक और सार्वदेशिक—कुछ युक्तिसंगत नहीं लगता। बोलियाँ देशज हो सकती हैं, भाषा नहीं।

यद्यपि प्रत्येक बोली का अपना स्वरूप—उच्चारण, निरुक्त और व्याकरण—होता है; परंतु वह प्राथमिक और तरलावस्था में होता है, उन्नत, परिष्कृत और दृढ़ नहीं। उसका शब्दकोश भी जीवन की आवश्यकताएँ तथा अंतर्द्वंद्व एवं बाह्य द्वंद्व कम होने के कारण संकुचित और सीमित होता है। इसके विपरीत भाषा का क्षेत्र अधिक विस्तृत और उसका स्वरूप—उच्चारण, निरुक्त और व्याकरण—अधिक परिष्कृत, नियमबद्ध, उन्नत और दृढ़ होता है। भाषा के विकास में यह प्रक्रिया सहज ही आ जाती है, क्योंकि उसे अधिक से अधिक और दूर से दूर के व्यक्तियों के लिये सुबोध बनना पड़ता है। इस परिस्थिति में हिंदी भाषा के देशज, प्रादेशिक और अखिल-देशीय रूपों के बीच विभाजक रेखाएँ खींचना संभव नहीं जान पड़ता। इस प्रश्न को समझने के लिये अंग्रेजी भाषा का उदाहरण संगत होगा। यह भाषा आज संसार में सबसे अधिक बोली और समझी जाती है। इसके अंतर्गत कई बोलियाँ हैं। कम से कम ब्रिटिश-द्वीप-समूह में ही ब्रिटन, वेल्श, स्काच आदि कई अंत-र्विभाग हैं। किंतु इनके लिये 'स्टैंडर्ड' (साधु) अंग्रेजी में कोई अलग रूप नहीं है। अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि में भी कभी-कभी शब्दों की रचना और उच्चारण में कुछ अंतर दिखाई पड़ता है, किंतु उसकी वाक्य-रचना और सर्वमान्य स्व-रूप में नहीं। उसके स्वरूप के अंतर्भेद संभाषण-सुलभ, साहित्यिक तथा शास्त्रीय हैं। ऐसा नहीं कि जो भाषा इंगलैंड के सामान्य जन बोलते और लिखते हैं वह आस्ट्रेलिया में अबोध्य है अथवा दूसरे देशों में अंग्रेजी सीखनेवालों के लिये दुर्बोध है। अंतर्भेदों के होते हुए भी अंग्रेजी का अपना स्वरूप, मापदंड और बहुजनगम्यता है। इसी प्रकार शिक्षित लोगों द्वारा व्यवहृत हिंदी के भी सरल बोलचाल के योग्य, साहित्यिक तथा शास्त्रीय भेद हो सकते हैं, किंतु ग्राम्य, नागर तथा सर्वदेशीय अथवा देशज, प्रादेशिक एवं अखिलदेशीय नहीं। उसका एक निखरा हुआ, नियमबद्ध तथा बहुजनगम्य रूप रखना ही होगा।

हिंदी भाषा के स्वरूप पर दूसरा आघात बाहरी है। वैसे तो भारतीय भाषाओं का संपर्क बहुत प्राचीन काल से विदेशी भाषाओं के साथ होता आया है। यवन, पह्लव, शक, ऋषिक-तुषार, हूण आदि जातियाँ भारत में आईं। यवन-पह्लव भाषाएँ काफी विकसित थीं, परंतु वे बहुत कुछ राजवंशों एवं स्कंधावारों तक ही सीमित थीं। साधारण जनता के साथ उनका संपर्क नहीं के बराबर था। जो कुछ शब्द उनसे भारतीय भाषाओं में लिए गए वे इस प्रकार मिला लिए गए कि आज उनसे

विदेशीपन की गंध भी नहीं आती। उदाहरण के लिये, पुस्तक, कलम, सुरंग, खलिन, क्रमेलक ( ऊँट ) आदि शब्द संस्कृत और हिंदी आदि प्रादेशिक भाषाओं के सुपरिचित शब्द हैं जो यूनानी भाषा से लिए गए थे। पार्थियन शब्द शाहानुशाही ऋषिक-तुषारों के समय में भारत में आ गया था। शक-कुषण ( ऋषिक-तुषार ) तथा हूणों के भी बहुत से शब्द भारतीय भाषाओं में लिए गए, किंतु आज उनकी विजातीयता लुप्त हो चुकी है। अरबों, तुर्कों और ईरानियों के आगमन के समय से स्थिति कुछ भिन्न हो गई। उनका धर्म और साहित्य सुसंगठित था और उन्होंने शताब्दियों तक भारत के कई प्रदेशों और भागों पर शासन किया। वैसे तो साधारण जनता ने अपने उच्चारण-क्रम से इनके बहुत से शब्दों को ग्रहण किया। किंतु इन जातियों ने अपने शासन और साहित्य में अपनी भाषाओं के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया और भारतीयों में जिन लोगों ने उनकी सेवा स्वीकार की तथा उनकी भाषा और साहित्य का अध्ययन और अनुकरण किया उन लोगों ने अपने स्वामियों के विदेशी शब्दों को उनके तत्सम रूप में ही ग्रहण किया। इस तरह उर्दू और हिंदी की खड़ी बोली में अरबी, फारसी तथा तुर्की के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग होता है और ये शब्द अपनी विजातीयता की स्पष्ट घोषणा करते रहते हैं। हाँ, कुछ शब्द भारतीय उच्चारण के प्रभाव से देशी होते जा रहे हैं। विदेशी शब्दों का तत्सम रूप से भाषा में बने रहना उसकी प्रकृति के सहज विकास में गतिरोध उत्पन्न करता है, क्योंकि ऐसे शब्द भाषा के व्याकरण के नियमों के सामने सहज समर्पण नहीं करते।

आधुनिक काल में हिंदी के ऊपर युरोपीय भाषाओं का बहुमुखी आक्रमण हुआ है। इसमें पुर्तगाली और फ्रांसीसी का स्वल्प, किंतु अंग्रेजी का सर्वतोमुखी आघात हुआ है। व्यापार और शासन के कारण हिंदी और अंग्रेजी का संपर्क तो अवश्यंभावी था। यदि यह संपर्क केवल व्यापारिक और सांस्कृतिक होता तो हिंदी युरोपीय शब्दों को सहज ढंग से अपने उच्चारण-क्रम और व्याकरण के अनुसार अपना लेती। परंतु शासक ने कृत्रिम ढंग से अंग्रेजी भाषा का आरोप हिंदीभाषियों पर किया। शासन और शिक्षा का माध्यम होने के कारण इसने पढ़ने-लिखनेवाले लोगों के पूर्ण जीवन को आक्रांत किया। केवल इसके तत्सम शब्द ही नहीं, शब्द-समूह, वाक्यांश, मुहावरे, संबंधियों के लिये शब्द और कहीं-कहीं क्रिया-पद भी सीधे हिंदी में प्रयुक्त होने लगे हैं। इससे भाषा में एक विचित्र खिचड़ी और विषम अवस्था उत्पन्न हो गई है। ऐसी परिस्थितियों को प्राचीन यूनानियों ने

अपनी भाषा में 'बार्बेराइज़ेशन' ( बर्बरीकरण ) कहा था, जिसका अर्थ है भाषा और संस्कृति के ऊपर अनावश्यक ढंग से अत्यधिक विदेशी प्रभाव। आज हिंदी के सामने भी विदेशीकरण की विकट समस्या उपस्थित है।

हिंदी के स्वरूप पर आघात विदेशी आक्रमणों और संपर्कों के अतिरिक्त भारत की सजातीय प्रादेशिक भाषाओं की ओर से भी हो रहे हैं। ये आघात दो प्रकार के हैं। एक ओर हिंदीतर प्रदेशों के सामान्य लोग हिंदी का प्रयोग अपने उच्चारण-क्रम और व्याकरण के अनुसार करते हैं, दूसरी ओर वे अपनी भाषा के शब्द और मुहावरे अपनी अर्द्धपक हिंदी के द्वारा हिंदी में उतार रहे हैं। प्रारंभिक संपर्क और व्यवहार में ऐसा होना स्वाभाविक है। किंतु इस प्रकृति को आवश्यकता से अधिक छूट देने से भाषा में एक अव्यवस्था और विकृति उत्पन्न हो जाने की प्रबल आशंका है।

इन आघातों की प्रतिक्रिया में हिंदी के स्वरूप के लिये एक और समस्या उत्पन्न हो गई है। जो लोग शुद्धिवादी और वर्जनशील प्रवृत्ति के हैं वे भाषा के प्रवाह को रोककर उसके संस्कृतबहुल, नियमबद्ध तथा विदेशी शब्दों से सर्वथा मुक्त, स्थिर एवं दृढ़ स्वरूप को ही ग्रहण करना चाहते हैं। यह भी भाषा की सहज और गतिशील अवस्था नहीं है। भाषा भी जीवंत पिंड की तरह कुछ नियमों से बद्ध रह-कर आगे बढ़ती, विविध संपर्कों में आती और अपना पोषण प्राप्त करती हुई विकसित होती है। वह एकांत और वर्जनशील वातावरण में पनप नहीं सकती। शुद्धिवाद और वर्जनशीलता से भाषा में जड़ता आने की आशंका है। जिस प्रकार चट्टानों के बीच में पड़कर वनस्पति, जीवधारी आदि जड़ हो जाते हैं उसी प्रकार वर्जनशील भाषा भी कई प्रबल प्रभावों के बीच में पड़कर जड़ और मृत बन जाती है।

अब प्रश्न यह है कि इस परिस्थिति में भाषा के स्वरूप के संबंध में क्या करना है। वास्तव में भाषा का स्वरूप परंपरागत, व्यक्तिगत और परिस्थितिगत तत्त्वों से बनता और बदलता रहता है। परंपरागत तत्त्व शतियों से प्रयुक्त, परिष्कृत और परिचित होते हैं, इसलिये किसी भी भाषा का शब्द-भांडार अधिकांश ऐसे शब्दों से भरा होता है। हिंदी भाषा के परंपरागत तत्त्व अधिकांश संस्कृत तथा शौरसेनी, महाराष्ट्री और अर्धमागधी प्राकृतों और बहुत ही अल्पांश में इनमें घुलेमिले विदेशी भाषाओं से आते हैं। इसलिये हिंदी के बहुत-से आधारभूत शब्दों का परंपरा-गत स्रोत से आना स्वाभाविक है। सच बात तो यह है कि हिंदी भाषा का वही

स्तंभ अथवा तना है। इसका स्वतः विकास और वृद्धि होगी तथा शाखा-प्रशाखाएँ निकलेंगी। अन्यान्य देशी अथवा विदेशी शब्दों और तत्त्वों को इसी से संबद्ध भी होना है। इस परिस्थिति में भाषा के पोषकों और शिल्पियों को इस परंपरागत तत्त्व की प्रकृति से परिचित होना चाहिए और इसके निजी विकास की दिशा को पहिचानना चाहिए। इस परंपरागत तत्त्व के कुछ अंश परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण छूट भी सकते हैं। ऐसे शब्द अथवा पद जिनके पदार्थों का अभाव हो गया है अथवा जिनकी उपयोगिता बिलकुल कम हो गई है, धीरे-धीरे भाषा के क्षितिज से ओझल हो जायँगे। इसी प्रकार बहुत से लाक्षणिक, पारिभाषिक और विचारपरक शब्द जो पहले चालू थे, आज अपने आधारों के खिसक जाने के कारण पीछे छूट जायँगे। इसलिये जहाँ भाषा की स्थिरता के लिये उसके परंपरागत स्तंभ को दृढ़ता से पकड़ने की आवश्यकता है, वहाँ उसके जड़ तथा मृत अंग का स्वाभाविक रूप में धीरे-धीरे उच्छेद होने पर घबराना या आशंकित होना अनावश्यक है। सजीव परंपरा के लिये जहाँ आग्रह वांछनीय है वहाँ उसके म्रियमाण अंग को केवल ममता के कारण पकड़े रहने से उसकी स्वस्थता और ग्राहकता को धक्का लगेगा।

हिंदी भाषा में व्यक्तिगत तत्त्वों का समावेश और विकास उसके लेखकों और कवियों की प्रतिभा, निरीक्षण और रचनात्मक शक्ति पर अवलंबित है। भाषा के व्यक्तिगत लेखक और कवि ही उसके जीवंत और वर्धमान कोश और घटक हैं। उनकी शक्ति और क्रिया पर ही भाषा का स्वरूप और भविष्य दोनों निर्भर हैं। परंपरागत तत्त्व का विवेकपूर्ण ग्रहण भी उन्हीं का काम है। अपने नए निरीक्षण, अनुभव एवं रचनाशक्ति के द्वारा नए शब्दों, चित्रों, कल्पनाओं एवं विचारों की सृष्टि करके भाषा को अधिक संपन्न और गतिशील बनाना भी उन्हीं के हाथ में है। इसलिये समर्थ साहित्यिकों द्वारा प्रत्येक युग में नए शब्दों, चित्रों, मुहावरों, सूक्तियों, विचारों, भावों और कल्पनाओं का निर्माण होता रहता है। इनमें से अधिकांश वांछनीय होते हैं और भाषा-पिंड में प्रविष्ट हो जाते हैं। इनका निर्बल और अवांछनीय अंग अगल-बगल में बिखरकर नष्ट हो जाता है।

परिस्थितिगत तत्त्व भी भाषा के स्वरूप के निर्माण में बहुत महत्त्व रखते हैं, क्योंकि उनका संबंध सामयिक घात-प्रतिघातों तथा तात्कालिक आवश्यकताओं से होता है। परिस्थितिगत तत्त्व आंतरिक और बाह्य दोनों तरह के होते हैं। सामाजिक जीवन में क्रांतियाँ और बाहरी आक्रमण अथवा प्रभाव इनको जन्म देते हैं।

इनका त्याग तथा ग्रहण किसी जाति अथवा देश के बौद्धिक बलाबल, विरोध और ग्राहकता पर निर्भर है। निर्बल समाज अथवा देश सबल समाज या देश से ग्रहण करने के लिये बाध्य होता है। सबल समाज और देश आकस्मिक क्रांतियों तथा बाहरी आक्रमणों और प्रभावों का विरोध करते हैं। वे ग्रहण भी करते हैं, किंतु स्वेच्छा, विवेक और कुशल चुनाव द्वारा। आंतरिक क्रांतियाँ किसी देश या समाज में सजातीय होने के कारण भाषा-संबंधी कोई दुर्लंघ्य समस्या नहीं खड़ी करतीं। थोड़े दिनों में उनका सामंजस्य परंपरागत तत्त्वों से हो जाता है। परंतु विदेशी आक्रमण और प्रभाव कठिन समस्याएँ उत्पन्न करते हैं। विदेशी तत्त्वों का सामंजस्य सरल नहीं होता। इनके संबंध में एक ओर तो आक्रमणकारियों की ओर से आरोप और उनके सामने समर्पण करनेवालों की ओर से अनुकरण की प्रवृत्ति होती है और दूसरी ओर परंपरा, श्रुति और देश के अभिमानियों की ओर से प्रतिरोध की। भाषा-संबंधी संघर्षों का यही कारण है। किंतु इस परिस्थिति में केवल पलायन, समर्पण अथवा प्रतिरोध से काम नहीं चलता। यदि आक्रमण और प्रभाव दुर्बल हैं तो उनका परित्याग और निष्कासन संभव है। यदि वे प्रबल और अनिवार्य हैं तो उनके साथ सामंजस्य आवश्यक हो जाता है। किंतु है यह सामंजस्य कठिन, क्योंकि विदेशी तत्त्वों का स्वरूप देशी भाषा से भिन्न होता है और भाषा के निर्माण और प्रवाह में विषमता उत्पन्न करता है। हिंदी भाषा के सामने भी आंतरिक क्रांति तथा विदेशी आक्रमण और प्रभाव की समस्या उग्र रूप में प्रस्तुत है। अतीत के राजनैतिक कारणों के अतिरिक्त विदेशों से राजनैतिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संपर्क बढ़ने से यह समस्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। यह भाषा के विषय और रूप दोनों से संबंध रखती है। जहाँ तक विषयों के चुनाव का प्रश्न है, उसका संबंध जनता की रुचि और जीवन के मूल्यों की स्थिरता और परिवर्तन से है। परंतु भाषा के बाह्य रूप का संबंध भाषा-निर्माण की पद्धति और शैली से है। इनके सफल प्रयोग पर एक सुघड़ और व्यंजक भाषा का विकास संभव है। आज का यह एक भाषा-संबंधी महान् प्रश्न है। इसका हल यथासंभव हिंदी भाषा की प्रकृति, ध्वनि, उच्चारण, व्याकरण और व्युत्पत्ति के अनुसार होना चाहिए। इस प्रकार बहुत से आवश्यक विदेशी शब्द हिंदी में आकर भी उसके अभिन्न अंग बन जायँगे। किंतु अंधाधुंध विदेशी शब्दों का ग्रहण भाषा में विचित्र सांकर्य उत्पन्न करेगा जो उसे समृद्ध और संस्कृत जीवन का माध्यम बनने में अक्षम बना देगा।

इस समय हिंदी भाषा के स्वरूप के संबंध में मोटे तौर पर निम्नलिखित नीति का अवलंबन किया जा सकता है—

१—हिंदी के वर्तमान व्याकरण को सामान्यतः मानकर चलना होगा।

२—हिंदी के ग्रामीण रूप के स्तर को क्रमशः, किंतु शीघ्र, ऊपर उठाकर परिष्कृत करना होगा। बिलकुल देशज शब्दों का व्यवहार बंद करना होगा। कुछ देशज शब्दों के खड़े रूप हिंदी में लिए जा सकते हैं।

३—दूसरे प्रदेशों द्वारा व्यवहृत होते समय यद्यपि बोलचाल की मौखिक भाषा में वचन, लिंग, क्रिया-पद आदि के प्रयोग में शिथिलता सह्य हो सकती है, किंतु हिंदी का साहित्यिक रूप शुद्ध रखना होगा।

४—प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध संस्कृत के तत्सम शब्दों को निर्विवाद ग्रहण करना होगा, यद्यपि उनके अर्थों में समीकरण यथाशीघ्र करना आवश्यक है।

५—दूसरे प्रदेशों के बहुत प्रचलित संस्कृत के तद्भव शब्द भी क्रमशः हिंदी भाषा में लेने होंगे।

६—प्रादेशिक भाषाओं के कुछ प्राकृत शब्द अपनी व्यंजकता के कारण हिंदी में मिल सकते हैं, किंतु उनके रूप हिंदी के व्याकरण के अनुसार चलेंगे। यही नियम अरबी-फारसी के शब्दों के साथ भी लागू होगा।

७—युरोपीय तथा अन्य विदेशी भाषाओं के जो शब्द दशाब्दियों से हिंदी के व्यवहार में आ गए हैं, वे हिंदी व्याकरण के अनुसार चलते रहेंगे।

८—विदेशी भाषा के वे ही तत्सम शब्द अथवा पद ग्राह्य होंगे जिनसे व्यक्त पदार्थों का आविष्कार विदेशों में हुआ हो और जिनका विशेष वैज्ञानिक अथवा अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व हो। किंतु इनसे व्युत्पन्न शब्दों का निर्माण हिंदी व्याकरण के अनुसार होगा।

९—साहित्य, सामाजिक शास्त्र तथा सामान्य विज्ञान के जो पारिभाषिक शब्द हिंदी में प्रचलित हैं उनका प्रयोग होगा और आवश्यकतानुसार नए शब्द गढ़ लिये जायँगे। हिंदी व्याकरण का ध्यान रखते हुए प्रादेशिक भाषाओं के ऐसे शब्दों के साथ हिंदी के शब्दों का समीकरण आवश्यक होगा।

# वैदिक आर्यों का आर्थिक जीवन

[ श्री बलदेव उपाध्याय ]

वैदिक आर्य उस अवस्था को पार कर चुके थे जिसमें मनुष्य अपनी क्षुधा-शांति के लिये फल-मूल पर ही निर्भर रहा करता है अथवा पशुओं का शिकार कर मांस से अपनी उदराग्नि की ज्वाला को शांत किया करता है। वे लोग एक सुव्यवस्थित तथा एक स्थान पर रहनेवाले समाज में सुघंटित हो गए थे, खानाबदोश फिरकों की तरह एक जगह से दूसरी जगह पर अपना निवास-स्थान बदला नहीं करते थे। उनकी जीविका का प्रधान साधन था खेती तथा पशु-पालन। वे कृषीवल समाज के रूप में ऋग्वेद में चित्रित किए गए हैं। आर्य कृषि को बड़ा महत्त्व देते थे। जूए में पराजित द्यूतकर को ऋषि ने उपदेश दिया है कि जूआ खेलना छोड़ दो और खेती करने का अभ्यास करो ( अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व, ऋ० १०।३४।७ )। ऋग्वेद के अनुसार अश्विनू ने सर्वप्रथम आर्य लोगों को हल ( वृक ) के द्वारा बीज बोने की कला सिखलाई।[1] इस प्रकार अश्विन् देवों का संबंध कृषि-कला के साथ नितांत घनिष्ठ है। अथर्व (८।१०।२५) में पृथी वैन्य नामक राजा को हल से भूमि जोतने की विद्या का आविष्कारक माना गया है। वेनुपुत्र पृथी या पृथु का वर्णन पुराणों में बड़े विस्तार के साथ किया गया है तथा इनकी सेवाओं का उल्लेख मार्मिक ढंग से किया हुआ मिलता है।[2] ये ही प्रथम राजा थे जिन्होंने कृषिकर्म के अयोग्य पथरीली भूमि को जोतकर समतल बनाया, और इसी लिये उसका 'पृथ्वी' नामकरण हुआ।

## कृषि-कर्म

खेत—ऋग्वेद तथा पिछले ग्रंथों में खेत के लिये 'उर्वर' तथा 'क्षेत्र' शब्द साधारणतया प्रयुक्त किए गए हैं। खेत दोनों प्रकार के होते थे—उपजाऊ

---

१—दशस्यन्ता मनवे पूर्व्यं दिवि यवं वृकेण कर्षथः ( ८।२२।६ ); यवं वृकेणाश्विना वपन्तेषं दुहन्ता मनुषाय दस्रा ( १।११७।२१ )।

२—श्री मद्भागवत, स्कंध ४, अध्याय १६-२३

( अप्नस्वती ) तथा पड़ती ( आर्तना, ऋ० १।१२७।६ )। खेतों के माप का भी वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। खेत बिलकुल एक चकला ही नहीं होता था, बल्कि उन्हें नाप-जोखकर अलग-अलग टुकड़ों में बाँट दिया करते थे, जो विभिन्न कृषकों की जोत में आते थे।[3] खेतों के स्वामित्व के विषय में विद्वानों में काफी मतभेद है। परंतु ऋग्वेद के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि खेत पर किसी जाति का अधिकार नहीं होता था, वह वैयक्तिक अधिकार का विषय था। इसकी पुष्टि में उस मंत्र का प्रामाण्य दिया जा सकता है जिसमें अपाला ने अपने पिता के खेत ( उर्वरा ) को उनके शिर के समान कोटि में उल्लिखित किया है।[4] वैयक्तिक अधिकार का यह तात्पर्य नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति उस समय अपने लिये अलग-अलग जोत रखता था, प्रत्युत उससे खेत पर एक कुटुंब का अधिकार समझना चाहिए। राजा ही समग्र खेत तथा भूमि का एकमात्र स्वामी है, यह कल्पना वैदिक युग में प्रबल नहीं जान पड़ती। आगे चलकर सूत्र-काल में यह भावना बद्धमूल हो सकी थी।

वैदिक काल के कृषि-कर्म के प्रकारों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय खेती आज की भाँति ही होती थी। खेत ( उर्वर, क्षेत्र ) को हलों से जोतकर बीज बोने के योग्य बनाया जाता था। हल का साधारण नाम 'लांगल' था 'सीर' था जिसके अगले नुकीले भाग को 'फाल' कहते थे। फाल ( फार ) बड़ा ही नुकीला तथा चोखा होता था। हल की मूँठ बड़ी चिकनी होती थी ( सुमतित्सरु, अथर्व, ३।१७।३ )। हल में एक लंबा मोटा बाँस बाँधा जाता था ( ईषा ), जिसके ऊपर जूआ ( युग ) रखा जाता था, जिसमें रस्सियों ( वरत्रा ) से बैलों का गला बाँधा जाता था। हल खींचनेवाले बैलों की संख्या छः, आठ, बारह अथवा चौबीस तक होती थी, जिससे हल के भारी तथा बृहदाकार होने का अनुमान किया जा सकता है। हलवाहा ( कीनाश ) अपने पैने ( अष्ट्रा, तोद या तोत्र ) से इन बैलों को हाँकता था। वैदिक काल में वैश्य लोग ही अधिकतर खेती किया करते थे, क्योंकि अष्ट्रा उनका चिह्न बतलाया गया है। खेत उपजाऊ होते थे। उनके उपजाऊ न होने पर खाद डालने की व्यवस्था थी। खाद के लिये गाय का गोबर ( करीष ) काम में लाया जाता था।

---

३—क्षेत्रमिव विममुस्तेजनेनं ( ऋ० १।११०।५ )।

४—इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे ॥ ( ऋ० ८।९१।५ )

पक जाने पर खेतों को हँसुआ (सृणि, ऋ० १०।१०१।३; दात्र, ऋ० ८।७८।१०) से काटते थे। अनाज को पूलियों (पर्ष) में बाँधते थे तथा खलिहान (खल, ऋ० १०।४८।७) में लाकर भूमि पर पीटते थे जिससे अनाज डंठल से अलग हो जाता था। शतपथ में कर्षण (जोतना), वपन (बोना), लवन (काटना) तथा मर्दन (माँड़ना)—चार ही शब्दों में कृषिकर्म की पूरी प्रक्रिया का वर्णन कर दिया है। मर्दन के बाद चलनी (तितउ) अथवा सूप (शूर्प) से अनाज भूसे से अलग किया जाता था (ऋ० १०।७१।२)। इसे करनेवाले व्यक्ति को धान्यकृत् कहते थे (ऋ० १०।९४।१३)। अनाज को बर्तनों से नापकर कोठिलों में रखते थे। नापनेवाले बर्तन को 'ऊर्दर' कहते थे (समूर्दरं न पूरयता यवेन, ऋ० २।१४।११) तथा उस बड़े घर को जिसमें अनाज इकट्ठा कर रखा जाता था, 'स्थीवि' कहते थे।[५]

अनाज—बोए जानेवाले अनाजों के नाम मंत्रों में मिलते हैं। ऋग्वेद में यव तथा धाना का उल्लेख है, परंतु इनके अर्थ पर मतभेद है। ये अनाज के साधारण नाम माने जाते हैं। बोए जानेवाले अनाजों के नाम हैं—व्रीहि (धान), यव (जौ), मुद्ग (मूँग), माष (उड़द), गोधूम (गेहूँ), नीवार (जंगली धान), प्रियंगु, मसूर, श्यामाक (साँवा), तिल (वाज० सं०, १८।१२)। खीरे (उर्वारु या उर्वारुक) का भी नाम मिलता है। इनमें अनेक अनाजों के नाम ऋग्वेद में नहीं मिलते, प्रत्युत पिछली संहिताओं तथा ब्राह्मणों में उपलब्ध होते हैं। व्रीहि ऋग्वेद में न होकर पिछले ग्रंथों में उल्लिखित है।

तैत्तिरीय संहिता में काले तथा सफेद धान में अंतर किया गया है तथा धान के तीन मुख्य प्रकार बतलाए गए हैं—कृष्ण (काला), आशु (जल्दी जमनेवाला) तथा महाव्रीहि (अर्थात् बड़े दानोंवाला, तै० सं० १।८।१०।१)। इन भेदों में आशु 'साठी' नामक धान को लक्षित करता है, क्योंकि यह धान केवल साठ ही दिनों में पककर तैयार हो जाता है (षष्टिका षष्टिरात्रेण पच्यन्ते)। धान का साहचर्य सदा यव के साथ बतलाया गया है। फलों की पैदावार के बारे में हम अधिक नहीं जानते। बेर का नाम विशेषतः आता है, परंतु यह जंगली था या लगाया जाता था, यह कहना कठिन है।

ऋतु—अनाज बोने की भिन्न-भिन्न ऋतुओं का विशिष्ट वर्णन तैत्तिरीय संहिता (७।२।१०।२) में किया गया है। इसके देखने से बीज बोने का समय आजकल

---

५—बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः॥ (ऋ० १०।६८।३)

के समान ही जान पड़ता है। जौ हेमंत में बोया जाता था, ग्रीष्मकाल में पकता था। धान वर्षा में बोया जाता तथा शरद् में पकता था। तिल तथा दालवाले अनाज शीतकाल में बोए जाते थे। फसल ( शस्य ) साल में दो बार बोई जाती थी। कौषीतकि ब्राह्मण ( २१।३ ) के अनुसार शीतकाल में बोई गई फसल चैत के महीने में पक जाती थी।

आजकल की भाँति उस समय भी किसानों के सामने हानि पहुँचानेवाले कीड़ों से खेती को बचाने की समस्या उपस्थित थी। अवर्षण तथा अतिवर्षण से भी खेती को हानि पहुँचती थी, परंतु कीड़ों से इनकी अपेक्षा कहीं अधिक। अथर्व में कृषि-नाशक कीड़ों में उपकस, जभ्य तथा पतंग के नाम दिए गए हैं, जिनसे खेती की रक्षा के लिये अनेक मंत्र तथा उपाय बतलाए गए हैं। छांदोग्य के प्रामाण्य पर टिड्डियों ( मटची ) से भी बड़ी हानि होती थी। कभी-कभी ये पूरा देश का देश साफ कर डालती थीं। एक बार टिड्डियों के कारण समग्र कुरु जनपद के नष्ट होने की घटना का उल्लेख किया गया है ( मटचीहतेषु कुरुषु, छां० १।१०।१ )।

वैदिक-कालीन कृषि के इस संक्षिप्त वर्णन से विदित होता है कि हमारी कृषि-पद्धति वैदिक ढंग पर आज भी चल रही है।

वैदिक आर्यलोग अपने कृषि-कर्म के लिये वृष्टि पर ही अवलंबित रहते थे। वृष्टि के देवता का इसी कारण वेद में प्राधान्य माना गया है। वृष्टि को रोकनेवाले दैत्य का नाम था वृत्र ( आवरणकर्ता ), जो अपनी प्रबल शक्ति से मेघों के गर्भ में होनेवाले जल को रोक रखता था। इंद्र अपने वज्र से वृत्र को मारकर छिपे हुए जल को बरसा देता था तथा नदियों को प्रगतिशील बनाता था। वैदिक देवतामंडल में इंद्र की प्रमुखता का रहस्य आर्यों के कृषिजीवी होने की घटना में छिपा हुआ है।

उस समय खेतों की सिंचाई का भी प्रबंध था। एक मंत्र में जल दो प्रकार का बतलाया गया है—खनित्रिमा ( खोदने से उत्पन्न होनेवाला ) तथा स्वयंजा[६] ( अपने-आप होनेवाला, नदी-जल आदि )। कूप ( कुआँ ) तथा अवट ( खोदकर बनाए गए गड्ढे ) का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर मिलता है ( कूप, ऋ० १०।१०५।१७; अवट, १।५८।८, १०।२५।४ )। ऐसे कुओं का जल कभी

६—या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति
खनित्रिमा उत वा याः स्वयं-जाः ॥ ( ऋ० ७।४९।२ )

कम नहीं होता था ( अक्षितं, ऋ० १०।१०१।६ )। कुओं से पानी पत्थर के बने चक्के ( अश्मचक्र ) से निकाला जाता था जिसमें रस्सियों ( वरत्रा ) के सहारे जल भरनेवाले कोश ( छोटी मोट ) बँधे रहते थे ( ऋ० ११।२५।४ )। पानी कुएँ से निकालने के बाद लकड़ी के बने पात्र ( आहाव ) में उड़ेला जाता था। कूपों का उपयोग मनुष्यों तथा पशुओं के निमित्त ही जल निकालने के लिये नहीं किया जाता था, बल्कि कभी-कभी इनसे सिंचाई भी होती थी। कुओं का जल बड़ी-बड़ी नालियों से बहता हुआ खेतों में पहुँचता ( सूर्मि सुषिरा, ऋ० ८।६९।१२ ) और उनको उपजाऊ बनाता था। कुओं से जल निकालने का यह ढंग अब तक पंजाब तथा दिल्ली के आसपास प्रचलित है।

वैदिक आर्यों के जीवन-निर्वाह के लिये कृषि का इतना अधिक महत्त्व तथा उपयोग था कि उन्होंने 'क्षेत्रपति' नामक एक देवता की स्वतंत्र सत्ता मानी है तथा उनसे क्षेत्रों के शस्य-संपन्न होने की प्रार्थना की है। क्षेत्रपति का वर्णन ऋग्वेद के चतुर्थ मंडल के सत्तावनवें सूक्त में उपलब्ध होता है। इस सूक्त के एक-दो मंत्र यहाँ दिए जाते हैं—

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥
शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्त॥ ७-९॥

[ भावार्थ—हमारे फाल ( हल के नुकीले अग्रभाग ) सुखपूर्वक पृथ्वी का कर्षण करें। हलवाहे ( कीनाश ) सुखपूर्वक बैलों से खेत जोतें। मेघ मधु तथा जल से हमारे लिये सुख बरसाए तथा शुनासीर हमलोगों में सुख उत्पन्न करें। ]

## पशु-पालन

वैदिक आर्यों के लिये कृषि-कर्म के अतिरिक्त पशु-पालन जीवन-निर्वाह का प्रधान साधन था। कृषीवल समाज के लिये पशुओं की और विशेषतः गाय-बैलों की कितनी महत्ता है, इसे प्रमाणों से सिद्ध करने की यहाँ आवश्यकता नहीं। आर्यों के जीवन में गायों का विशेष स्थान इसी कारण है। बैलों से खेती का काम लिया जाता था। गाय का दूध आर्यों के भोजनालयों की एक प्रधान वस्तु था। यह शुद्ध अमिश्रित रूप में आर्यों का प्रधान पेय था। सोमरस में मिलाने के काम आता था तथा क्षीरौदन ( खीर ) बनाने में भी नितांत उपयोगी था। इससे दही और घी

तैयार किया जाता था। उस प्राचीन काल में किसी व्यक्ति की धन-संपत्ति का माप उसके पास होनेवाली गायों की संख्या से होता था। यज्ञों में ऋत्विजों के लिये दक्षिणा रूप में गाय ही देने का विधान था। यहाँ तक कि 'दक्षिणा' शब्द अनेक स्थलों पर 'गो' का पर्यायवाची बन गया था।[7] राजा लोग प्रसन्न होकर ब्राह्मणों को सौ या हजार गायों का दान दिया करते थे, जिसका ऋषियों ने दानस्तुतियों में आभार प्रदर्शन करते हुए उल्लेख किया है। वैदिक काल में सिक्कों का प्रचलन बहुत ही कम था। अतः लेन-देन, व्यवहार-बंटा, क्रय-विक्रय के कार्य के लिये विनिमय का मुख्य माध्यम गाय ही थी। गाय के ही बदले में वस्तुएँ खरीदी जाती थीं। पदार्थों का मूल्य गाय के ही रूप में विक्रेता को दिया जाता था। ऋग्वेद के एक मंत्र में ३।२४।१०) वामदेव ऋषि का कथन है कि कौन मनुष्य ऐसा है जो मेरे इस इंद्र (इंद्र की मूर्ति) को दस गायों से खरीद रहा है।[8] अन्य मंत्र में सौ, हजार या दस हजार भी गाएँ इंद्र को खरीदने के लिये पर्याप्त नहीं मानी गई हैं।[9] भारत में ही नहीं, पश्चिमी देशों में भी प्राचीन काल में संपत्ति की कल्पना का आधार गाय ही थी। लातिनी भाषा का 'पेकस' ( pecus ) शब्द, जिसका अर्थ संपत्ति है और जिससे अंग्रेजी का 'पेक्यूनियरी' ( pecuniary ) शब्द बनता है, भाषाशास्त्र की दृष्टि में संस्कृत 'पशुः' (पशुस्) शब्द से संबंध रखता है। इस प्रकार खेती, भोजन तथा द्रव्य-विनिमय का मुख्य साधन होने के कारण गाय वैदिक आर्यों के लिये नितांत उपादेय तथा आवश्यक पशु थी। वैदिक काल में गाय के गौरव का रहस्य इसी सामाजिक अवस्था की सत्ता में अंतर्निहित है। इसी कारण वैदिक आर्यगण गाय को 'अघ्न्या' ( न मारने योग्य ) के नाम से पुकारते थे तथा उसे समधिक श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में गाय को देवता के रूप में अंकित किया गया है। ऋग्वेद का एक सुंदर सूक्त (६।२८) धेनु की प्रचुर प्रशंसा से ओतप्रोत है तथा वैदिक आर्यों की गो-भक्ति का स्पष्टाक्षरों में प्रतिपादक है।

---

७—तं ह कुमारं सन्तं 'दक्षिणासु' नीयमानासु श्रद्धाविवेश (कठोपनिषत् १।१।२)।

८—क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ( ४।२४।१० )।

९—महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम्।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥ ( ऋ० ८।१।५ )

ऋषि भरद्वाज के शब्दों में 'गाय भग ( देवता ) है, गाय ही मेरे लिये इंद्र है, गाय ही सोमरस की पहली बूँद है; ये जितनी गायें हैं वे, हे मनुष्यो, इंद्र की साक्षात् प्रतिनिधि हैं। मैं हृदय से, मन से, उसी इंद्र को चाहता हूँ'—

गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।

इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ६।२८।५

इस मंत्र में गाय के देव-स्वरूप की अभिव्यक्ति नितांत स्पष्ट शब्दों में की गई है। गो का देवत्व काल्पनिक न होकर आर्यों के लिये वास्तविक है; क्योंकि गाएँ कृश ( दुबले-पतले आदमी ) को स्थूल बना देती हैं, शोभाहीन ( अश्रीर ) पुरुष को सुभग सुंदर रूप प्रदान करती हैं, और उनकी बोली अत्यंत कल्याणकारक है। सभाओं में गाय के विपुल सामर्थ्य का वर्णन बहुशः किया जाता था ( ६।२८।६ )। ऋग्वेद के एक दूसरे सूक्त ( १०।१६९ ) में शबर काक्षीवत ऋषि ने गायों की उत्पत्ति को अंगिरस् ऋषि की तपस्या का सुखद परिणाम बतलाया है[१०] तथा भिन्न-भिन्न देवताओं ( रुद्र, पर्जन्य तथा इंद्र ) से प्रार्थना की है कि वे लोग हमारी परम उपकारक गायों का सतत कल्याण-साधन किया करें। इस प्रकार गायों के प्रति वैदिक आर्यों की अटूट श्रद्धा का भाव आज भी उनके वंशजों में जाग्रत् रूप से यदि पाया जाता है, तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

गाएँ वैदिक काल में दिन में तीन बार दुही जाती थीं—प्रातःकाल ( प्रातर्दोह ), दोपहर से कुछ पहले ( संगव ) तथा सायंकाल ( सायंदोह—तै० सं ७।५।३।१ )। तीन बार वे चरने के लिये चरागाह में भेजी जाती थीं। पहली बार की दुहाई में दूध प्रचुर मात्रा में होता था, परंतु अन्य दोनों समय कुछ कम। जो गाएँ दूध देनेवाली होती थीं वे सायंकाल घर चली आती थीं तथा 'शाला' में रखी जाती थीं, परंतु अन्य पशु बाहर मैदान में ही रहा करते थे। परंतु दोपहर के समय जब गर्मी अधिक होती तो सभी पशु छप्पर के नीचे रखे जाते थे ( ऐतरेय ३।१८।१४ पर सायण भाष्य )। पशुओं के रहने के स्थान को 'शाला' तथा चरने के मैदान को 'गोष्ठ' कहा जाता था। चरने जाने के समय बछड़े शाला में ही

---

१० – याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्टया नामानि वेद।

या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य ! महि शर्म यच्छ ॥

( ऋ० १०।१६९।२ )

रहते, परंतु संगव या सायंकाल वे अपनी माताओं के साथ रहते थे। वैदिक काल में गाएँ भिन्न-भिन्न रंगों की होती थीं—लाल ( रोहित ), सफेद ( शुक्र ), चित्रित ( पृश्नि ) तथा काली ( कृष्ण )। चरागाह में गाएँ गोप या गोपाल ( ग्वाले ) की देखरेख में चरती थीं, जो उन्हें अपने पैने ( अष्ट्रा ) से उन्हें हाँकता था। ग्वालों के सजग रहने पर भी गाएँ कभी-कभी संकट तथा विपत्तियों में पड़ जाती थीं। कभी वे कुओं या गढ्ढों में गिर जातीं, कभी उनका अंगभंग हो जाता, कभी वे भूल जाया करतीं और कभी दस्यु या पणि लोग उन्हें चुरा लिया करते थे ( ऋ० १।१२०।८ )। इन विपत्तियों से पशुओं की रक्षा करनेवाले वैदिक देवता का नाम 'पूषन्' था, जो इसी लिये 'अनष्टपशुः' ( गोरक्षक ) विशेषण से विभूषित किए गए हैं।[11] गाएँ इतनी अधिक होती थीं कि उनकी पहिचान के लिये उनके कानों के ऊपर नाना प्रकार के चिह्न बनाए जाते थे। जिन गायों के कानों पर अंक आठ का चिह्न बना रहता वे 'अष्टकर्णी' कहलाती थीं ( ऋ० १०।६२।७ )। मैत्रायणी संहिता ( ४।२।९ ) में उल्लिखित चिह्न हैं—वंशी ( कर्करिकर्ण्यः ), हँसुआ ( दात्रकर्ण्यः ), खंभा ( स्थूणाकर्ण्यः )। कभी-कभी गायों के कान छेदे भी जाते थे ( छिद्रकर्ण्यः )। अथर्व में मिथुन के चिह्न का निर्देश है जो संभवतः प्रजनन-शक्ति के उत्पादन का प्रतीक जान पड़ता है। गायों के कानों को चिह्नित करने की यह प्रथा बहुत दिन पीछे तक भारत में प्रचलित रही, क्योंकि पाणिनि के सूत्रों में ऐसे चिह्नों का उल्लेख मिलता है ( अष्टा० ६।३।११५ )।

गायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के द्योतक अनेक शब्द वैदिक ग्रंथों में मिलते हैं, जिनसे आर्यों का इस पशु के साथ गाढ़ परिचय अभिव्यक्त होता है। सफेद गाय को 'कर्की', बच्चा देनेवाली जवान गाय को 'गृष्टि', दुधारी गाय को 'धेना' या धेनु, बाँझ गाय ( वहिला ) को 'स्तरी', 'धेनुष्टरी' या 'वशा', बच्चा देकर बाँझ होनेवाली गाय को 'सूतवशा' तथा अकाल में जिसका गर्भ गिरकर नष्ट हो जाता उस गाय को 'वेहत्' कहते थे। वह गाय जिसे अपना बछड़ा मर जाने पर नए बछड़े के लिये मनाने की आवश्यकता होती थी, 'निवान्यवत्सा' या 'निवान्या' ( शत० २।६।१।६ ), 'अभिवान्यवत्सा' ( ऐत० ७।२ ), 'अभिवान्या' या केवल 'वान्या' शब्द से अभिहित की जाती थी। वैदिक ऋषियों को गाय का अपने बछड़े के लिये

---

११—पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।

( ऋ० १०।१७।३ )

रँभाना इतना कर्णसुखद प्रतीत होता था कि वे देवताओं को बुलाने के लिये प्रयुक्त अपने शोभन गानों की इनसे तुलना करने में तनिक भी नहीं सकुचाते थे।[१२]

वैदिक समाज में बैलों का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता था। वे हल जोतने के लिये तथा बोझवाली गाड़ी खींचने के लिये नियमतः काम में लाए जाते थे। वैदिक ग्रंथों में बैलों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को सूचित करनेवाले अनेक शब्द पाए जाते हैं। बैल के लिये प्रयुक्त साधारण शब्द 'ऋषभ', 'उक्ष', तथा 'उस्रिय' है; दुधमुँहे बछड़े को 'धरुण', डेढ़ साल के बछड़े को 'त्र्यवि', दो साल के बछड़े को 'दित्यवाह्' ढाई साल वाले को 'पञ्चावि', तीन साल वाले को 'त्रिवत्स', साढ़े तीन साल वाले को 'तुर्यवाह्', चार साल वाले को 'पष्ठवाह्' कहते थे। इतनी ही अवस्थाओं वाली गायों के लिये क्रमशः 'त्र्यवी', 'दित्यौही', 'पञ्चावी', 'त्रिवत्सा', 'तुर्यौही', 'पष्ठौही' शब्दों का प्रयोग किया जाता था ( वाज सं० १८।२६, २७ )। जवान बैल को 'वृष' तथा 'ऋषभ', गाड़ी खींचने में समर्थ बैल को 'अनड्वान्' और बधिया किए गए बड़े बैल को 'महानिरष्ट' नाम से पुकारते थे।

## अन्य उद्यम

वैदिक आर्य खेती तथा पशु-पालन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के उद्यम करते थे, जिनमें हाथ के कौशल और कारीगरी की विशेष आवश्यकता पड़ती थी। बढ़ई ( तक्षन् ), लोहार ( कर्मार ), वैद्य ( भिषक् ), स्तोत्र बनानेवाले (कारु), कुम्हार ( कुलाल ), रथ बनानेवाले ( रथकार ), मल्लाह ( कैवर्त, निषाद ) तथा बुनकर ( वाय ) आदि का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया गया है। इन धंधों को करने में आर्यजनों को पर्याप्त स्वतंत्रता थी। अपनी स्वाभाविक रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार वे लोग अपने लिये पेशे चुन लिया करते थे। अतः यह कथन कि बढ़ई-लुहार नीच जाति के लोग थे या इन्होंने अपनी अलग एक जात बना रखी थी, वैदिक काल के लिये नितांत निराधार है। ऋग्वेद के एक सूक्त ( ९।११२ ) में विभिन्न पेशेवालों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सुंदर नैसर्गिक वर्णन किया गया है। यह वर्णन अपनी स्पष्टवादिता और सादगी के लिये बड़े महत्त्व का है। ऋषि का कथन है कि "बढ़ई टूटी हुई वस्तु को चाहता है, वैद्य रोगी को, ऋत्विक् यज्ञ में

---

१२—अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न मातरः।
इन्द्रं सोमस्य पीतये॥ ( ऋ० ९।१२।२ )

सोम का रस निकालनेवाले यजमान को, कर्मार बनाकर को। मैं स्वयं कवि (कारु) हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता (नना) आँत पीसनेवाली (उपलप्रक्षिणी) है। है। हमारे विचार नाना प्रकार के हैं और हम अपनी अभीष्ट वस्तु की ओर उसी प्रकार दौड़ रहे हैं जिस प्रकार गायों की ओर।"[१३]

**बढ़ई**—यह लकड़ी से सब प्रकार की चीजें, विशेषकर रथ तथा गाड़ी (अनस्) बनाने का काम करता था और लकड़ी की चीजों पर नक्काशी का भी काम करता था। कुलिश तथा परशु उसके औजार थे।

**रथकार**—रथकार का वैदिक समाज में बहुत आदरणीय स्थान था। रथ ही युद्ध में लड़नेवाले आर्य शूर-वीरों की प्रधान सवारी थी, अतः उसे बनानेवालों के प्रति आदर की भावना होना स्वाभाविक था।

**लोहार**—लोहार का उल्लेख अनेक वैदिक संहिताओं में(ऋ० १०।७२।२;अथर्व ३।५।६ आदि) आदर के साथ किया गया मिलता है। अथर्ववेद में लोहार मल्लाह (धीवानः) और रथकार के साथ कारीगरों की सूची में गिना गया है (अ० ३।५।६)। लोहार आग में लोहे को गलाता था, इसलिये उसे 'ध्मातृ' के नाम से पुकारा जाता था। उसकी धौंकनी पक्षियों के पंखों की बनी बताई गई है। वह नित्य के काम के लिये धातु के बर्तन बनाता था। कभी-कभी सोमरस पीने के लिये धातु के प्याले भी हथौड़े से पीटकर बनाए जाते थे। इस प्रकार लोहार की उपयोगिता वैदिक समाज में बहुत महत्त्वपूर्ण थी।

**बुनकर**—लोहार की भाँति बुनकर का पेशा भी महत्त्वपूर्ण था। वैदिक मंत्रों में इस पेशे से आर्यों का गहरा परिचय दिखाई पड़ता है। पहले रुई को कात-कर सूत तैयार किया जाता और तब उससे कपड़ा बुना जाता था। बुनकर का नाम 'वाय' था। ऋग्वेद (१०।२६।६) में प्रयुक्त 'वासो-वाय' (धोती बुननेवाला) शब्द से जान पड़ता है कि उस समय धोती बुननेवाले तथा अन्य वस्त्रों—जैसे चादर, दुपट्टा, कंबल आदि—को बुननेवाले में भेद माना जाता था। बुनकर के

---

१३—कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिम
इन्द्रायेन्द्रो परिस्रव॥ (ऋ० ९।११२।३)

पेशे से संबद्ध पारिभाषिक शब्द साधारण व्यवहार के विषय थे। तंतु ( ताना ), ओतु ( बाना, ऋ० ६।९।२ )[१४], तंत्र ( करघा, ऋ० १०।७१।९ ), प्राचीनातान ( आगे खींचकर बाँधा गया ताना, तैत्ति० सं० ६।१।१।४ ) आदि अनेक बार प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द आर्यों के इस कला से गाढ़ परिचय के द्योतक हैं। बुनने की प्रक्रिया भी बहुत कुछ आजकल की सी जान पड़ती है। सूत खूँटियों ( मयूख ) की सहायता से ताना जाता था ( वाज० सं० १९।८० )। बुनने में सहायता देने वाली ढरकी का नाम 'तसर' था ( ऋ० १०।१३०।२ )। करघे के लिये 'वेमन्' शब्द का प्रयोग होता था। बुनने का काम विशेषतः स्त्रियों के जिम्मे रहता था, जिन्हें 'वयित्री' कहते थे। अथर्व ( १०।७।४२ ) में इसकी पोषक एक अनूठी उपमा का प्रयोग मिलता है। रात्रि और दिन को दो बहिनें कहा गया है, जो वर्षरूपी वस्त्र को बुनकर तैयार करती हैं। इसमें रात्रि है ताना तथा दिन बाना।

सूती धोती ( वासस् ), रेशमी कपड़े ( तार्प्य और क्षौम ) तथा ऊनी वस्त्र कंबल, परिधान आदि )—ये ही बुनने की मुख्य वस्तुएँ थीं। ऋग्वेद के अनुशीलन से पता चलता है कि परुष्णी तथा सिंधु नदियों का प्रदेश और गांधार बढ़िया ऊनी वस्त्रों के लिये विख्यात थे। परुष्णी नदी के तीर पर बहुत ही बढ़िया पतले तथा रंगीन ऊनी वस्त्र तैयार होते थे। मरुत् की स्तुति में उनके परुष्णी ऊन के बने शुद्ध वस्त्र पहनने का उल्लेख किया गया है।[१५] सिंधु नदी के वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसका प्रदेश वैदिक काल में व्यापार का, विशेषतः सूती तथा ऊनी वस्त्रों के व्यापार का बड़ा जीता-जागता केंद्र था। सिंधु देश केवल बढ़िया घोड़ों तथा सुंदर रथों के ही लिये प्रसिद्ध न था, प्रत्युत सूत तथा ऊन की पैदावार भी वहाँ बहुतायत से होती थी।[१६] ऋषि ने इसी लिये सिंधु को 'सुवासा' तथा 'ऊर्णावती' विशेषणों से अलंकृत किया है। गांधार की भेड़ें अपने चिकने ऊन के

---

१४—नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः।

१५—उतस्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसन्त शुन्ध्यवः। इस मंत्र में 'शुन्ध्यव' शब्द से तात्पर्य स्वच्छ अथवा रंगीन ऊनी वस्त्र माना जाता है।

१६—स्वश्वा सिंधुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगे मधुवृधम्॥
—ऋ० १०।७५।८

लिये ऋग्वेद-काल में चारों ओर प्रसिद्ध थीं ( सर्वाहमस्मि रोमशा गंधारीणामिवा-विका, ऋ० १।१२६।७ )। इस प्रकार ऋग्वेद के समय में सप्तसिंधव प्रदेश का पश्चिमोत्तर भाग सूत तथा ऊन के व्यवसाय से चमक उठा था। उसके करघों से निकले हुए वस्त्रों की ख्याति आर्यों के घर-घर में फैल गई थी। इस संबंध में यह बात बड़े महत्त्व की है कि वैदिक काल में भारत का जो पश्चिमोत्तर प्रदेश रुई तथा ऊन की बढ़िया उपज तथा औद्योगिक कलाओं के लिये विशेष रूप से विख्यात था, उसमें आज भी यह औद्योगिक परंपरा अटूट दिखाई पड़ती है। आज भी पंजाब के अनेक नगर—लुधियाना, धारवाल, अमृतसर आदि—सूती तथा ऊनी वस्त्र तैयार करनेवाली मिलों से गूँज रहे हैं और अपनी बढ़िया उपज के लिये भारत भर में प्रसिद्ध हैं।

## व्यापार

वैदिक काल में कृषि-कर्म तथा औद्योगिक शिल्पों से उत्पन्न वस्तुओं का क्रय-विक्रय हुआ करता था। व्यापार की उस प्रारंभिक अवस्था में उसका एक मात्र रूप वस्तु-विनिमय ही था। एक चीज के बदले दूसरी चीज खरीदी जाती थी और इसी अदला-बदली के रूप में वैदिक व्यापार चलता था। हमने सप्रमाण दिखलाया है कि वैदिक काल में गाय ही 'क्रय-विक्रय' का मुख्य माध्यम थी। पर जैसा कि हम आगे देखेंगे, एक प्रकार के सिक्के का भी चलन था। व्यापार करनेवाले को 'वणिक्' कहते थे, और उसके कर्म को 'वणिज्या'। मूल्य के लिये 'शुल्क' तथा 'वस्न' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। वैदिक काल में पणि लोग ( व्यापारियों का एक वर्ग ) जल-मार्ग तथा स्थल-मार्ग से वस्तुओं का आदान-प्रदान किया करते थे। क्रेय सामग्री में खेती तथा उद्योग-धंधों से उत्पन्न वस्तुएँ होती थीं। सिंधु तथा परुष्णी के प्रदेश के करघों से तैयार सूती तथा ऊनी माल उस समय सप्तसिंधव के अन्य भागों में अवश्य भेजा जाता रहा होगा और उसका व्यापार जोरों से चलता रहा होगा। अथर्ववेद में दूर्श ( वस्त्र ), पवस्त ( चादर ) तथा अजिन ( चर्म ) खरीदने का उल्लेख मिलता है ( अथर्व० ४।७।६ )।

भौतिक जीवन की आवश्यक वस्तुओं के सिवा यागानुष्ठान की भी दो-एक उपयोगी वस्तुओं का क्रय-विक्रय उस समय होता था। वैदिक काल में मूर्ति-पूजा का प्रचलन था या नहीं, इस विषय में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ऋग्वेद

के मंत्रों ( ४।२४।१०; ८।१।५ ) की छानबीन से देवताओं की मूर्तियाँ खरीदने और बेंचने की बात प्रमाणित की जा सकती है। इतना ही नहीं, सोमलता का भी व्यापार अवांतर काल में होने लगा था। सोम का मूल निवास 'मूजवत्' पर्वत पर माना गया है जो सप्तसिंधव के उत्तर-पश्चिम में अवस्थित था। ज्यों-ज्यों आर्यों का निवास पूरब की ओर बढ़ता गया, त्यों-त्यों मूजवत् पर्वत दूर होता गया और सोमयाग के लिये सोमलता का ले आना कठिन होता गया। इस कार्य के संपादन के लिये अनेक व्यक्ति सोमलता का व्यापार करने लगे थे। सोमयाग के आरंभ में गाएँ देकर सोम खरीदने की विधि है, जो ऐतिहासिक पर्यालोचन से बहुत ठीक जमती है।

वैदिक काल में बाजार अवश्य थे, क्योंकि अनेक स्थलों पर वस्तुओं को खरीदने के समय भाव-ताव करने का निःसंशय उल्लेख मिलता है। जो शर्त दूकानदार और ग्राहक के बीच एक बार निश्चित हो जाती थी वह कथमपि तोड़ी नहीं जाती थी। ऋग्वेद ( ४।२४।९ ) के एक मंत्र में भाव-ताव करने और शर्त न तोड़ने का वर्णन बहुत स्पष्ट है। मंत्र का आशय यह है कि एक मनुष्य ने बड़े दाम की चीज कम मूल्य पर एक गाहक के हाथ बेंच डाली। पता चलने पर वह गाहक के पास आया और यह कहकर कि मेरी चीज बिना बिकी (अविक्रीतं) समझी जानी चाहिए, अपनी चीज वापस लेने पर उतारू हो गया। परंतु गाहक अड़ गया और चीज नहीं लौटाई। निर्धन ( दीन ) तथा धनिक ( दक्ष ) दोनों प्रकार के मनुष्यों को अपनी की हुई शर्तों को मानना ही पड़ता था।[१७]

स्थल-व्यापार—वैदिक काल में बहुत से पशु माल-असबाब ढोने के काम में लाए जाते थे। आर्यों ने अपनी चातुरी से इन्हें पाल-पोसकर घरेलू बना लिया था। ऐसे पशुओं में बैल ( बधिया, 'वध्रयः', ऋ० ८।४६।३० ), घोड़े, ऊँट ( उष्ट्र, १।१०४ ), गदहे ( रासभ, ऋ० १।३४।९ ), कुत्ते ( ऋ० ८।४६।२८ ) तथा भैंसे ( महिष, ऋ० ८।१२।८ ) प्रधान थे। बैल हल जोतने के काम में तो आते ही थे, साथ ही वे गाड़ी खींचते तथा बोझ भी लादते थे। घोड़ों का भी उपयोग रथ तथा बोझ दोनों के लिये होता था। गदहे रथ में जोते जाते तथा बोझा ढोते थे। सप्तसिंधव के आसपास जो अनेक मरुस्थल ( धन्व ) थे उनमें माल ढोने का काम

१७—भूयसा वस्नमचरत् कनीयोऽविक्रीतं अकानिषं पुनर्यन्।

स भूयसा कनीयो नारिरेचीद् दीना दक्षा वि दुहन्ति प्रवाणम्। (ऋ० ४।२४।९)

ऊँटों से लिया जाता था। कुत्तों से यह काम लिए जाने की बात सुन कुछ आश्चर्य होता है ( अश्वेषितं रजेषितं शुनेषितं, ऋ० ८।४६।२८ ), परंतु कुत्ता कृषक आर्यों के लिये बड़े काम का जानवर था। वह चोरों तथा दूसरे आक्रमणकारियों से घर की रक्षा करता और उसके द्वारा सुअर का शिकार भी किया जाता था। वह बहुत बलवान् होता था, अतः बहुत संभव है कि पणियों का 'सार्थ' ( काफिला ) कुत्तों की पीठ पर माल लादकर व्यापार के लिये सप्तसिंधव प्रदेश में एक जगह से दूसरी जगह ले जाता रहा हो।

**सामुद्रिक व्यापार**—वैदिक काल में समुद्र से व्यापार होता था या नहीं, इस प्रश्न की पाश्चात्य विद्वानों ने गहरी छानबीन की है। उनकी यह निश्चित धारणा है कि ऋग्वेद के समय में आर्यों को समुद्र की जानकारी न थी तथा उस समय सामुद्रिक व्यापार का सर्वथा अभाव था। परंतु ऋग्वेद के अनुशीलन से इस धारणा को उन्मूलित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। ऋग्वेद के मंत्रों में साधारण नावों के अतिरिक्त सौ डाँड वाली ( शतारित्रा ) बड़ी नाव का स्पष्ट उल्लेख है।[१८] उसके पंख (पतत्रि) भी कहे गए हैं। वहाँ पंखों से मतलब पालों से है।[१९] नासत्यौ ( अश्विन् ) के अनुग्रह से 'शतारित्र' नाव पर चढ़कर समुद्र-यात्रा करनेवाले तुग्र-पुत्र भुज्यु के उद्धार का उल्लेख ऋग्वेद के अनेक मंत्रों ( १।११२।६, ६।६२।६, १०।४०।७, १०।६५।१२ आदि ) में किया गया है। जान पड़ता है कि इन देवों ने भुज्यु को समुद्र के बीच जहाज में डूबने से बचाया था। वरुण देव की स्तुति में शुनःशेप ऋषि का कहना है कि वे आकाश से जानेवाले पक्षियों के ही मार्ग को नहीं जानते, अपितु समुद्र पर चलनेवाली नावों के मार्ग से भी वे परिचित हैं।[२०] इन निर्देशों से ऋग्वेद-काल में ही वैदिक आर्यों के समुद्र से परिचित होने तथा जहाजों द्वारा उनके उसे पार करने के उद्योग का भली भाँति पता चल जाता है।

समुद्र-मार्ग से व्यापार होने की बात भी अनेक मंत्रों से आभासित होती है। आर्यजन मोती से भली भाँति परिचित थे। ऋग्वेद में मुक्ता का नाम है 'कृशन',

---

१८—शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्। ( ऋ० १।११६।५ )

१९—युवं भुज्युं समुद्र आ रजसः पार ईङ्खितम्।
यातमच्छा पतत्रिभिर्नासत्या सातये कृतम्॥ ( ऋ० १०।१४३।५ )

२०—वेदा वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्, वेद नावः समुद्रियः। ( ऋ० १।२५।७ )

जिससे सविता के रथ के अलंकृत किए जाने का उल्लेख है।[21] घोड़ों के अलंकरण के लिये मोतियों का प्रयोग होता था; ऐसे अलंकृत घोड़ों को 'कृशनावन्त' कहते थे।[22] अथर्ववेद (४।१०।१,३) मोती पैदा करनेवाले शंख (शंखः कृशनः) को जानता है, जो समुद्र से लाए जाते और तावीज बनाने के काम में प्रयुक्त होते थे। मोती दक्षिण-भारत के समीपस्थ सागर के किनारे पैदा होता है। अतः यदि कहा जाय कि आर्यलोग समुद्र के रास्ते आकर इस मूल्यवान् वस्तु को खरीदते थे, तो अत्युक्ति न होगी।

सिक्के—व्यापार के लिये विनिमय-कार्य के निमित्त गाय की महती उपयोगिता थी, परंतु किसी प्रकार के सिक्कों का भी चलन उस समय अवश्य था, इसके अनेक प्रमाण वैदिक ग्रंथों में मिलते हैं। एक प्रकार का सिक्का 'निष्क' था। निष्क का मूल अर्थ तो सुवर्ण का आभूषण था, क्योंकि इसी अर्थ में निष्कग्रीव (ऋ० ५।१९।३) तथा निष्ककंठ शब्दों में इसका प्रयोग मिलता है। व्रात्य लोगों के चाँदी के निष्क पहिनने का उल्लेख पंचविंश-ब्राह्मण (१७।१।१४) करता है। कक्षीवान् ऋषि ने किसी दानी राजा से सौ निष्क तथा सौ घोड़े पाने की बात लिखी है,[23] जिससे निष्क के एक प्रकार का सिक्का होने के सिद्धांत की पुष्टि होती है। पिछले ग्रंथों में तो निष्क निश्चित रूप से विशिष्ट प्रकार की मुद्रा का ही बोधक है (अथर्व २०।१२७।३, शतपथ १०।४।१।१, गोपथ १।३।६)। एक मंत्र में प्रयुक्त 'मना' भी किसी प्रकार का सिक्का ही जान पड़ता है। वैदिक 'मना', ग्रीक 'मना' तथा रोमन 'मिना' के परस्पर संबंध के विषय में जानकारों में काफी मतभेद है।

अनेक वैदिक ग्रंथों में 'हिरण्यं शतमानं' शब्द उपलब्ध होते हैं, जिनमें सोना तौलने के किसी 'मान' की ओर संकेत किया गया है। वैदिक ग्रंथों से जान पड़ता है कि सोना तौलने का एक मान था 'कृष्णल'। मनु के अनुसार चार कृष्णलों का एक माष (माशा) होता था। अवांतर काल में कृष्णल का नाम रक्तिका (रत्ती) तथा गुंजा है, जो लत्ती नामक लता का लाल बीज होता है, जिसके ऊपर एक काला धब्बा रहता है। इस प्रकार वैदिक काल में सोने को तौलने का रिवाज था।

---

२१—अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्। (ऋ० १।३५।४)

२२—मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्राः।(ऋ० १।१२६।४)

२३—शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान् प्रयतान् सद्य आदम्।
(ऋ० १।१२६।२)

ऋण—उस समय ऋण लेने की भी प्रथा थी, विशेषतः जूआ खेलने के अवसर पर। ऋण चुका देने के लिये ऋग्वेद में 'ऋणं संनयति' वाक्य का प्रयोग मिलता है। ऋण न चुकाने का फल बड़ा बुरा हुआ करता था। द्यूत में ऋण-परिशोध न करने पर द्यूतकर को जन्म भर दासता स्वीकार करनी पड़ती, अथवा चोरों के समान ऋणियों को खंभों (द्रुपद) में बाँधा जाता था (अथर्व ६।११५।२-३)। व्याज की दर का पता ठीक नहीं चलता। एक जगह (ऋ० ८।४७।१७, अथर्व ६।४६।३) ऋण के आँठवें भाग (शफ) तथा सोलहवें भाग (कला) को चुकाने की बात मिलती है, परंतु यह स्पष्ट रूप से नहीं ज्ञात होता कि यह व्याज का भाग था या मूलधन का। पूर्वजों द्वारा लिए गए ऋण उनके वंशजों द्वारा चुकाए जाते थे। ऋग्वेद के एक मार्मिक मंत्र में ऋषि इस प्रकार के ऋण-परिशोध के लिये वरुण से प्रार्थना करता है—'हे वरुण पूर्वजों द्वारा लिए गए ऋणों को हटा दीजिए तथा मेरे द्वारा लिए गए ऋणों को भी दूर कर दीजिए। दूसरे के द्वारा उपार्जित धन (या ऋण) से मैं जीवन-निर्वाह करना नहीं चाहता। बहुत सी उषाएँ मेरे लिये उषाएँ ही नहीं हैं (अर्थात उदित ही नहीं होती)। हे वरुण! आप आज्ञा दीजिए और मुझे उन उषाओं में जीवित रखिए।' यह मंत्र[२४] ऋणकर्ता की गहरी मानसिक वेदना तथा चिंता प्रकट करता है। पूर्व दिशा में नित्य प्रभात होता था तथा उषाएँ अपनी सुनहली प्रभा से जगत् को रंजित करती थीं, किंतु ऋण के बोझ से दबे चिंतित पुरुष के लिये उनका उदित होना न होना बराबर था।

पणि लोग उस समय व्यापार के लिये विशेष प्रसिद्ध थे। वे ऋण दिया करते थे, परंतु व्याज बहुत अधिक खाते थे। इसीलिये वे ऋग्वेद में 'बेकनाट' कहे गए हैं।[२५] निरुक्त के अनुसार 'बेकनाट' सूदखोरों को कहते थे, जो अपने रुपयों को दुगुना बनाने की कामना किया करते थे—'बेकनाटाः खलु कुसीदिनो भवन्ति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणदायिनो वा, द्विगुणं कामयन्ते इति वा' (निरुक्त, ६।२७)।

इस प्रकार वैदिक आर्यों के आर्थिक जीवन का इतिहास उन्हें शिष्ट, सभ्य तथा संपन्न सिद्ध करने के लिये पर्याप्त माना जा सकता है।

---

२४—पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्य कृतेन भोजम्।
अव्युष्टा इन्नु भूयसीरुषास आ नो जीवान् वरुण तासु शाधि॥

२५—इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणीं रभि॥

# प्राचीन ध्वजों का एक अध्ययन

[ श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी ]

हमारे यहाँ छत्र, चामर तथा सिंहासन के साथ ध्वज को भी राजचिह्नों के अंतर्गत गिनाया गया है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इसका स्थान अन्य राज-चिह्नों से कहीं अधिक ऊँचा है। राजा के चामर या छत्र का रक्षण उतना महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता था जितना उसके ध्वज का। इसका पूरा ध्यान रखा जाता था कि ध्वज-रक्षण करने में प्राणों की आहुति भले ही देनी पड़े, पर ध्वज-भंग न होने पाए। इसी कारण ध्वज के रक्षण का कार्य बड़े ही जीवटवाले सैनिकों को सौंपा जाता था। ध्वज को इतना बड़ा स्थान केवल भारत में ही दिया गया हो यह बात नहीं, विश्व की अन्य प्राचीन सभ्यताओं में भी उसका वही स्थान था। इस लेख में ऐतिहासिक दृष्टि से ध्वजों के रूप, प्रकार तथा महत्त्व के विकास का अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा की जा रही है।

ध्वजों का उपयोग वैदिक काल से होता आ रहा है। ऋग्वेद में उसके उल्लेख कम पाए जाते हैं, पर जो मिलते हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि ध्वजों का उपयोग युद्धों में किया जाता था।[1] रामायण-महाभारत काल में पहुँचते-पहुँचते ध्वजों के उल्लेख प्रचुरता से मिलने लगते हैं। स्वपक्षीय एवं परपक्षीय योद्धाओं को पहिचानने का एकमात्र साधन उनके रथ पर के ध्वज ही थे। सेनापति का सुंदर फहराता हुआ ध्वज ही सारी सेना का उत्साह-केंद्र होता था। प्रासाद पर प्रतिष्ठित करने के लिये, पूजन के लिये, राजा की सवारी को सुशोभित करने के लिये तथा राजचिह्न के रूप में ध्वज का उपयोग किया जाता था। इन प्रकारों की विस्तृत मीमांसा आगे की जायगी। परवर्ती काल के अन्य सभी ग्रंथों से ध्वज-विषयक ज्ञान की वृद्धि ही होती जाती है, पर उसका जितना सुंदर सुसंबद्ध विवेचन बृहत्संहिता ( लगभग छठी शती ) तथा युक्तिकल्पतरु (लगभग दसवीं-ग्यारहवीं शती) में मिलता है वैसा अन्य स्थलों पर क्वचित् ही प्राप्त होगा। साहित्य से प्राप्त ज्ञान की

---

१—मैकडानल, वेदिक इंडेक्स, जिल्द १ पृ० ४०६, जि० २ पृ० ४१६

कसौटी कला है। कला की सहायता से साहित्य की कई गुत्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं। भारतीय कला के विविध नमूनों से ध्वज के कई प्रकारों का पता लगता है और इस प्रकार हमारे ध्वज-विषयक ज्ञान में वृद्धि होती है। अतएव प्रस्तुत विवेचन की आधार-भित्तियाँ दो हैं—भारतीय साहित्य और भारतीय कला।

## ध्वज के अंग

साधारणतः केतु पताका, ध्वज इत्यादि शब्द समानार्थक माने जाते हैं और इसी रूप में बहुधा प्रयुक्त भी होते हैं। किंतु विशेष अध्ययन से स्पष्ट लक्षित होता है कि उनके अर्थों में भेद है। 'ध्वज' झंडे के लिये सामान्य शब्द है। मुख्यतः लंबे और ऊँचे झंडे को ध्वज कहते थे। इसके कई प्रकार थे जिनका विवेचन आगे किया जायगा। झंडे के डंडे को 'ध्वजदंड' या 'ध्वजयष्टि' कहते थे (बृह० ४३।८) और उसमें फहरानेवाले वस्त्रखंड को 'पताका'। ध्वजदंड के ऊपर बहुधा कोई चिह्न रहता था जो ध्वजपति के पद एवं महत्ता का सूचक होता था। इसके सिवा ध्वज-शीर्ष को सजाने के लिये कई वस्तुएँ होती थीं, जो अपने-अपने विशेष नामों से पुकारी जाती थीं; जैसे चामर, किंकिणी, घंटा, मोरपंख या बर्हिपत्र इत्यादि। ध्वजशीर्ष से लटकनेवाले मोतियों के गुच्छे या रेशमी झब्बे को 'अवचूल' या 'चूलक' (अग्निपुराण,. अध्याय १०३) कहते थे। ध्वज जिस वेदी पर खड़ा किया जाता था उसे 'यंत्र' कहते थे (पपाताभिमुखः शूरो यंत्रमुक्त इव ध्वजः—महाभारत ७।३३३२)। जिन रस्सियों के सहारे ध्वज खड़ा किया जाता था उन्हें 'रश्मि' या 'रज्जु' कहते थे।

## ध्वज के भेद

ध्वज के मुख्य भेद दो थे—सपताक और निष्पताक। कुछ ध्वज ऐसे होते थे जिनमें पताका या झंडी लगी रहती थी, पर कुछ ऐसे भी होते थे जिनमें यष्टि के ऊपर केवल चिह्न होता था, पताका नहीं होती थी। एक तीसरा प्रकार भी होता था, जिसमें ध्वज-चिह्न की तो प्रमुखता होती थी पर शोभा के लिये कभी एक और कभी दो पताकाएँ भी लगी रहती थीं। कला में लगभग सभी प्रकार के ध्वजों के दर्शन होते हैं। भारहुत, साँची तथा मथुरा की कलाकृतियों में कितने ही सपताक ध्वज दिखलाई पड़ते हैं जिनका विस्तृत विवेचन आगे यथास्थान किया जायगा। निष्पताक ध्वज प्राचीन मुद्राओं पर दिखलाई पड़ते हैं। औदुंबरों (लगभग १०० वर्ष ई० पू०) की ताम्र-मुद्राओं पर शिव-मंदिर चित्रित है, ठीक उसके पार्श्व में त्रिशूल-

चिह्नांकित निष्पताक ध्वज दिखलाई पड़ता है।[२] आज भी बहुधा शिव-मंदिर के द्वार पर लोहे या ताँबे के बने हुए बड़े-बड़े त्रिशूल रखे मिलते हैं। इन्हें भी भगवान् शिव के निष्पताक ध्वज कहना अनुचित न होगा। छोटी-छोटी पताकाओं वाले तीसरे प्रकार के निष्पताक ध्वज गुप्त राजाओं की मुद्राओं पर देखने को मिलते हैं। समुद्रगुप्त का गरुड़ध्वज इसी प्रकार का है। ध्वजदंड के ऊपर पंख फैलाए गरुड़ की मूर्त्ति बनी है और उसके नीचे छोटी-छोटी दो पताकाएँ या एक ही पताका के बँधे हुए दो छोर दिखलाई पड़ते हैं।[३] कुछ मुद्राओं पर यह पताका बिलकुल दिखाई नहीं पड़ती।[४] ( द्रष्ट० चित्र सं० १ अ-ई )

पताकाओं के आठ प्रकार थे। 'जया' पताका पाँच हाथ लंबी और एक हाथ चौड़ी होती थी। उसकी लंबाई में एक हाथ तथा चौड़ाई में ½ हाथ बढ़ाते चलने पर क्रमशः विजया, भीमा, चपला, वैजयंतिका, दीर्घा, विशाला और लोला नामक पताकाएँ बनती थीं ( युक्ति० ४९६, ४९७ )। इस क्रम से अंतिम लोला पताका ३½ हाथ चौड़ी और १२ हाथ लंबी होती थी। प्राचीन कला में दिखलाई पड़नेवाली अनेक लंबी पताकाएँ लाल, पीली, नीली तथा चित्र-विचित्र रंगों की होती थीं। अंतिम प्रकार की पताका अजंता की गुफाओं में बने हुए चित्रों में ( गुफा १७ ) स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। साँची तथा भारहुत[५] की कलाकृतियों में पताकाओं पर कई आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं। साँची की पताकाओं पर तो ये आकृतियाँ सरल रेखा की सहायता से बनाई गई हैं पर भारहुत की पताकाओं पर कहीं-कहीं फूल भी बने हैं।

## पताकाओं का आकार

अब तक के विवेचन से इतना तो निश्चित हो जाता है कि पताकाएँ पर्याप्त लंबी और कम चौड़ी होती थीं, पर प्रश्न यह उठता है कि इनका आकार त्रिकोणात्मक होता था या आयताकार। आज हमें दोनों प्रकार की पताकाएँ देखने को मिलती हैं, पर देखना यह है कि प्राचीन काल में स्थिति क्या थी। पताकाओं के

---

२—ऐलेन, कॉएंज़ ऑव एंशंट इंडिया, १५।१-१०

३—ऐलेन, कैटेलॉग ऑव कॉएंज़ ऑव द गुप्त डायनेस्टी, फलक १।१

४—वॉन मार्शल, दि मॉन्युमेंट्स ऑव साँची, फ० १६

५—बी० एम० बरुआ, भारहुत, फ० २१ चित्र १४-४१

आकार पर रघुवंश के एक श्लोक से बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है। सातवें सर्ग में स्वयंवर के पश्चात् अज और अन्य राजाओं के बीच होनेवाले युद्ध का वर्णन करते हुए कवि बतलाता है कि, "वायु के कारण मछली के आकारवाली पताकाओं के मुँह खुले रह गए थे, उनमें जब धूल घुस रही थी तब वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो वर्षा का गँदला पानी पीनेवाली मछलियाँ हों—

मत्स्यध्वजा: वायुवशाद्विदीर्णैः मुखैः प्रवृद्धध्वजिनी रजांसि ।

बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥ रघु०, ७।४०

इस श्लोक से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं–एक तो यह कि मत्स्यध्वज की पताका का कपड़ा दोहरा सिला होता था और उसका एक छोर मछलियों की पूँछ के समान हुआ करता था, क्योंकि तभी तो पताका का मुँह खुल जाने पर उसमें भरी हुई हवा के कारण सारी पताका मछली के आकार की दिखलाई पड़ सकती है। दूसरे यह कि पताका वर्गाकार न होकर कुछ आयताकार सी होती थी, जिसकी लंबाई चौड़ाई से कहीं अधिक हुआ करती थी। अंतिम निष्कर्ष हमारे उपर्युक्त विवेचन से भी पुष्ट होता है कि पताका की लंबाई कम से कम पाँच हाथ और चौड़ाई ३ हाथ होती थी। रही मछलियों के आकारवाली बात। इसका स्पष्टीकरण अजंता की गुफाओं में दिखलाई पड़नेवाली पताकाओं को देखने पर हो जाता है (गुफा १७)। इन पताकाओं के हवा में फहरानेवाले छोर ठीक मछलियों की पूँछ के समान बने हुए हैं। इस प्रकार इन पताकाओं की सहायता से कालिदास का कथन भली प्रकार समझा जा सकता है ( चित्र संख्या २-३ )।

यह तो हुई मत्स्यध्वज की बात। कला में शुद्ध आयताकार पताकाएँ भी दिखलाई पड़ती हैं (साँची०, फलक ११, १५, १७; भारहूत०, फलक १९, चित्र १४, १५; अमरावती०, फलक ५ चित्र ३ इ०)। परंतु ध्यान देने योग्य बात यह है कि लगभग ये सभी पताकाएँ बौद्ध धर्म से संबंधित हैं। आज भी सारनाथ, कुशीनगर आदि बौद्ध तीर्थों में उत्सवादि के अवसर पर अनेक प्रकार के चित्रों एवं मंत्रों से अंकित ठीक इसी प्रकार की पताकाएँ दिखलाई पड़ती हैं। अतएव उपर्युक्त दो आकारों को छोड़कर अन्य आकारों की पताकाओं का भी प्राचीन भारत में होना संभव है।

## पताका और दंड

अब देखना चाहिए कि दंड पर पताका किस प्रकार चढ़ाई जाती थी। इसकी भी दो रीतियाँ थीं।-एक तो आज के ही समान दंड में ही पताका बाँध दी
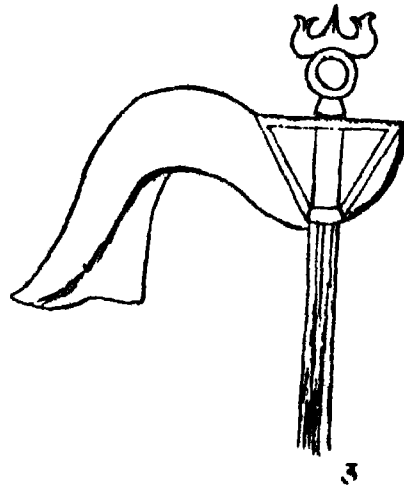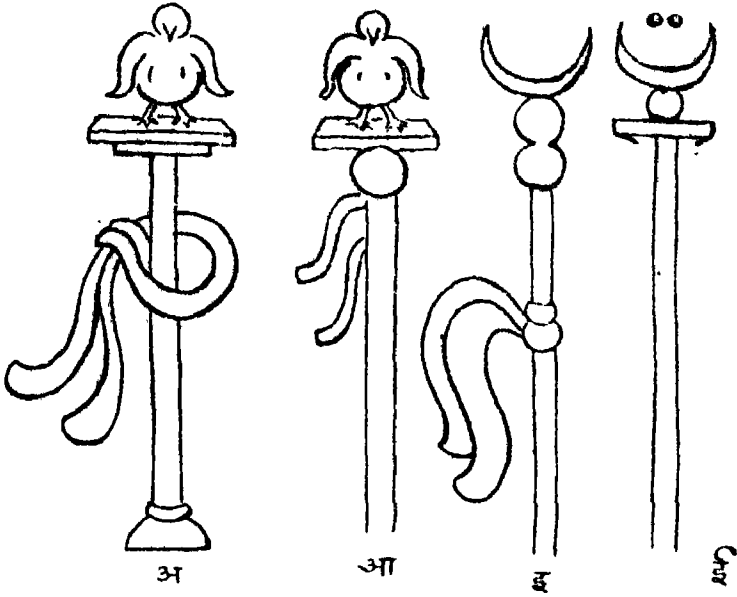
चित्र सं० १

अ–ई—गुप्त-मुद्राओं पर अंकित ध्वज;
उ—त्रिरत्न-युक्त बौद्ध ध्वज (साँची)।
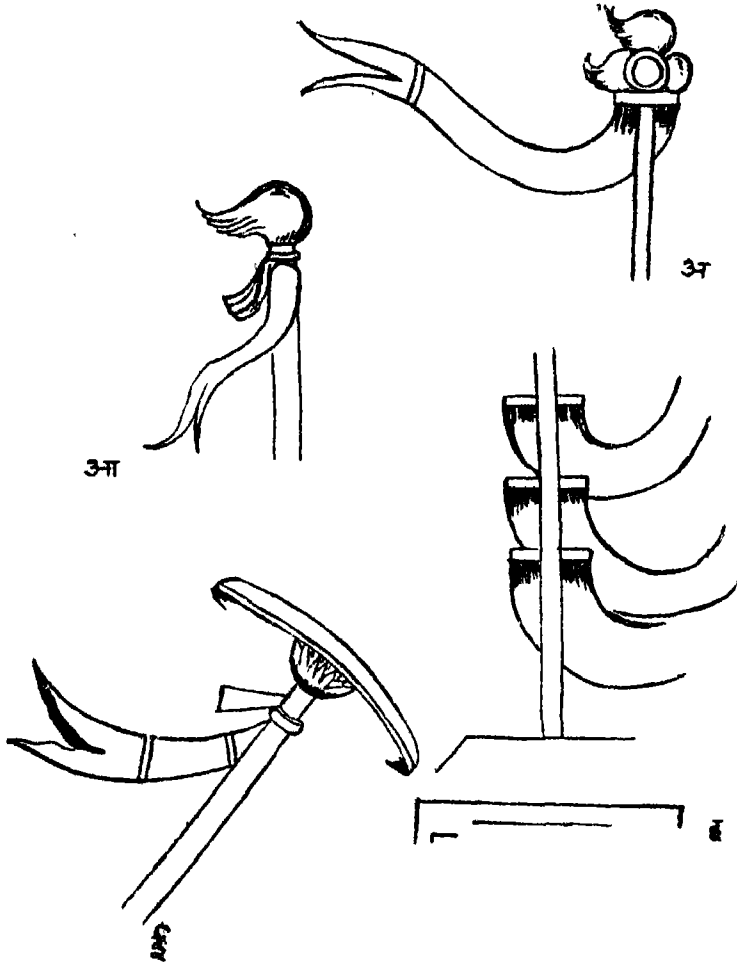
चित्र सं० ४

ध्वजों के कुछ प्रकार ( अजंता )
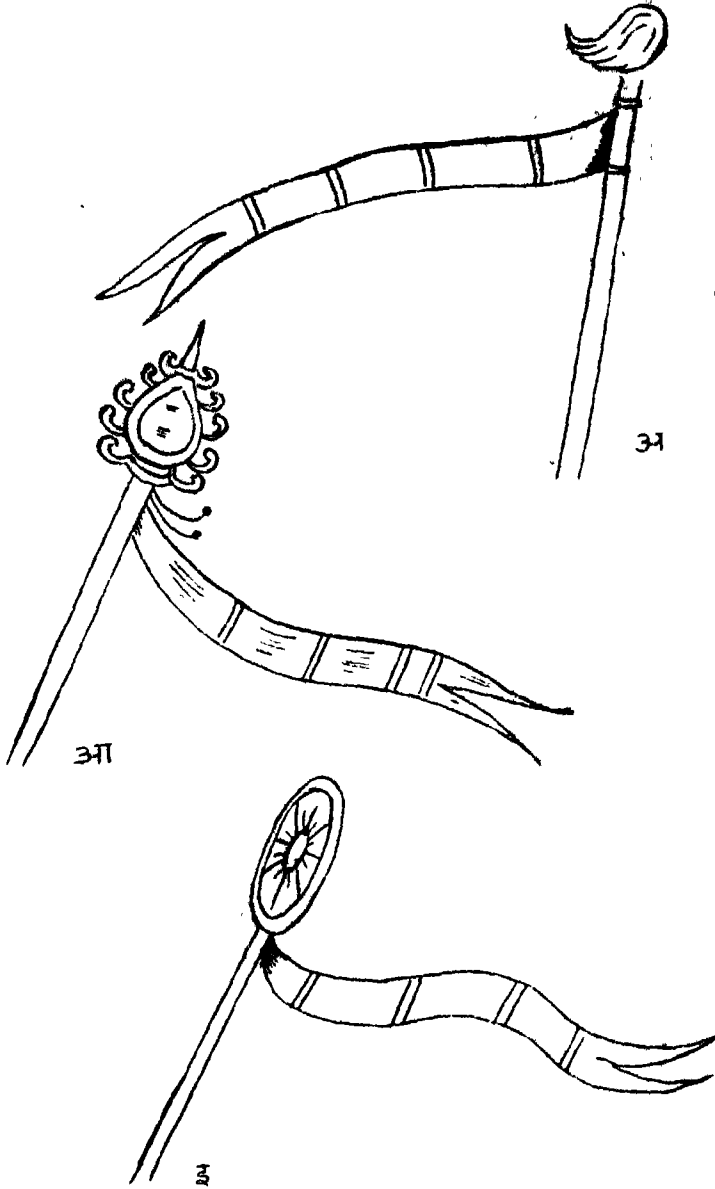
चित्र सं० ३

चामर, मणि तथा चक्रध्वज ( अजंता )
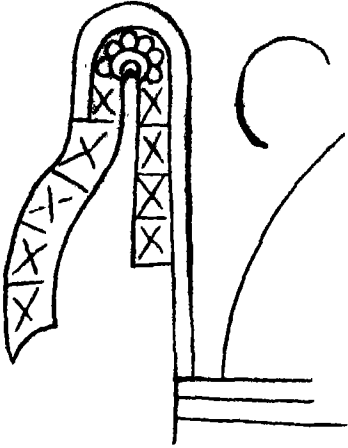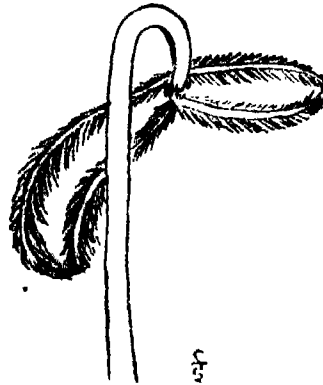
चित्र सं० ४

भारहूत की कला-कृतियों में ध्वज

जाती थी। गुप्तकालीन मुद्राओं पर तथा राजघाट ( काशी ) से प्राप्त मिट्टी की मुहरों पर इस प्रकार की दंड में बँधी हुई पताकाओं से युक्त ध्वज दिखलाई पड़ते हैं। अजंता के चित्रों में भी इस प्रकार के ध्वज देखे जा सकते हैं ( चित्र संख्या ३ )। पताका बाँधने की दूसरी विधि यह थी की ध्वजदंड के ऊपरी सिरे पर एक छोटी लकड़ी आड़ी बँधी रहती थी, उसी में पताका का चौड़ाई वाला सिरा बाँध दिया जाता था ( साँची०, फलक ११ )। कहीं-कहीं अधिक मजबूत बनाने के लिये इस लकड़ी को दो अन्य लकड़ियों के सहारे कसा जाता था ( साँची०, फलक १७ )। इस प्रकार दंड के ऊपरी सिरे पर तीन डंडों का एक ऐसा त्रिकोण बनता था जिसका आधार ऊपर और शीर्षकोण नीचे होता था ( चित्र संख्या २ अ तथा १ उ )। पताका-बंधन का एक तीसरा प्रकार भी भारहूत की कलाकृतियों में दिखलाई पड़ता है ( भारहूत, फलक ५२ चित्र ५४ )। इसमें ध्वजदंड का ऊपरी सिरा गोलाई में मुड़ जाता था और इस प्रकार बने हुए अर्धवर्तुल में लकड़ी लगा दी जाती थी जिसके सहारे नीचे की ओर पताकाएँ लटकती रहती थीं। इस प्रकार एक ही ध्वजदंड से दो पताकाएँ लटकाई जा सकती थीं। अर्धवर्तुलाकार भाग को अर्धकमल या अर्धपुष्प की आकृति से सुशोभित किया जाता था ( चित्र संख्या ४ अ )। कभी-कभी एक ही ध्वजदंड में एक-के-नीचे-एक कई लकडियाँ बाँधकर एक साथ कई पताकाओं की योजना की जाती थी। अजंता ( गुफा १७ ) के चित्रों में एक स्थल पर इस प्रकार की तीन पताकाएँ उड़ती हुई दिखलाई पड़ती हैं ( चित्र संख्या २ इ )। कहीं-कहीं छत्र-दंड के सहारे भी पताकाएँ उड़ती हुई दिखलाई पड़ती हैं। यहाँ पताका को सीधे दंड से ही बाँधा गया है। अजंता में बहुधा बुद्ध-मूर्ति के मस्तक पर पताका सहित छत्र दिखलाई पड़ते हैं ( चित्र संख्या २ ई )।

## ध्वजदंड

यहाँ तक पताकाओं का विवेचन करने के बाद अब ध्वजदंड पर विचार करना चाहिए। ध्वजदंड बहुधा लकड़ी का हुआ करता था। इसके लिये बाँस, बकुल, शाल, पलाश, चंपक, नीप ( अशोक वृक्ष का एक प्रकार या कदंब ), नीम और विराज ( वृक्ष-विशेष, Critaeva Rox burghii ) नामक पेड़ों की लकड़ी काम में लाई जाती थी। इनमें बाँस ही सर्वश्रेष्ठ एवं संपत्तिकारक समझा जाता था। इसका एक अभिप्राय यह भी हो सकता है कि बाँस में झुकने का गुण होने के कारण वह सहज ही टूट नहीं सकता और इस प्रकार ध्वजभंग का भय कम रहता है। साधा-

स्पष्टतः ध्वजदंड की लंबाई कम से कम दस हाथ और अधिक से अधिक बीस हाथ होती थी। सेना में ध्वज की लंबाई पद-मर्यादा की सूचक होती थी। एक हजार से कम सेना वाले सेनानायक का अपना कोई ध्वज नहीं होता था। एक सहस्र सैनिकों के नायक का ध्वज दस हाथ ऊँचा होता था, दो हजार वाले का ग्यारह हाथ और तीन हजार वाले का बारह। इस क्रम से अयुताधिप अर्थात् दस हजार की सेना के संचालक का ध्वज बीस हाथ ऊँचा रहा करता था। यह ऊँचाई की अंतिम सीमा थी।[६] साहित्य के द्वारा यह निश्चित रूप से नहीं जाना जा सकता कि ध्वजदंड की मोटाई नीचे से ऊपर तक एक सी होती थी या घटती-बढ़ती रहती थी, पर कला से इसका कुछ परिचय मिलता है। वहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि स्तूपादि के पास जो ध्वज गड़े हुए हैं उनके दंड तो नीचे से ऊपर तक समान व्यास के हैं, पर हाथी पर राजा के पीछे स्थित ध्वजवाहक जिन ध्वजों को लिए हैं उनमें कहीं-कहीं यह बात नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ साँची की कृतियों में एक स्थल पर (फ० १६) ऊपर का भाग मोटा और निचला भाग कुछ पतला होता गया है। भाजा की कलाकृतियों में ठीक इसका विपरीत क्रम दिखलाई पड़ता है।[७] सभवतः ध्वजदंड का यह अंतर अपनी रुचि एवं सुगमता की दृष्टि से किया जाता रहा होगा।

## निष्पताक ध्वज

निष्पताक ध्वज की एक विशेषता उसकी लंबाई थी। इसका दूसरा वैशिष्ट्य इसपर स्थिर चिह्न था। उसी के आधार पर इस ध्वज के दंड, पक्ष, पद्म, कुंभ विहग और मणि—ये छः प्रकार माने गए। आठ, सोलह, बत्तीस या चौंसठ दलोंवाला कमल और गोल तथा आठों दिशाओं में अर्थात् चारों ओर पँखुड़ियों से अलंकृत कुंभ ध्वज-चिह्न के लिये उत्तम समझा जाता था। पक्षियों में हंस, मयूर, शुक तथा चाष पक्षी और इसी प्रकार मणियों में हीरा, पद्मराग, वैदूर्य तथा नीलम ध्वज-चिह्न के लिये श्रेष्ठ माने जाते थे।

---

६—मूल विवेचन के लिये द्रष्ट० 'युक्तिकल्पतरु' (कलकत्ता, ईश्वरचंद्र शास्त्री), पृ० ६८–७२

७—प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय, बंबई की पत्रिका, सं० १, १९५०-५१ में आर० जी० ज्ञानी का लेख 'आइडेंटिफिकेशन ऑव सो-कॉल्ड सूर्य ऐंड इंद्र फ़िगर्स इन द भाजा ग्रूप'।

इन चिह्नों के सिवा अन्य चिह्न भी निष्पताक ध्वजों पर अंकित किए जाते थे। 'हयशीर्ष पंचरात्र' में ताँबे के बने हुए चक्र के निष्पताक ध्वज पर चिह्नरूप में प्रयुक्त किए जाने का उल्लेख है ( द्रष्ट० शब्द-कल्पतरु, 'ध्वज' )। अजंता की गुफा में भी चक्रध्वज चिह्न के रूप में प्रयुक्त हुआ है ( गुफा १७ ), पर वह ध्वज सपताक है ( चित्र संख्या ३ इ )। गुप्त राजा प्रकाशादित्य की मुद्राओं पर चक्रध्वज दिखलाई पड़ता है। कला में ऐसे भी निष्पताक ध्वज मिलते हैं जिनके द्वारा अपेक्षित देवताओं का बोध कराया गया है। उदाहरणार्थ, शुंगकालीन बिडाल-ध्वजधारी बलराम की मूर्ति (भारत कलाभवन, काशी) और अहिच्छत्रा (रामनगर) से प्राप्त बुद्ध के जीवन के चार प्रमुख दृश्यों से अंकित शिलापट्ट पर बनी हुई मीन-केतन मार की प्रतिमा ( लखनऊ संग्रहालय ) को गिनाया जा सकता है। भारहुत की कला-कृतियों में एक यक्ष और यक्षिणी इस प्रकार के निष्पताक ध्वज को धारण किए हुए दिखलाई पड़ती है (भारहुत, फ० २१, चित्र १७, १७ ए)। इन्हें हम सुपर्ण-ध्वज कह सकते हैं ( चित्र संख्या ४ आ ); क्योंकि ध्वजदंडों के ऊपर मालाधारी सुपर्ण ( आवक्ष मानव-शरीर धारण करनेवाला पक्षी ) बना हुआ है। यहीं के एक वेदिका-स्तंभ पर 'संगमावचर जातक' की कथा अंकित है ( भारहुत, फ० ७६ चित्र १०१ )। बोधिसत्त्व राजहस्ती पर आरूढ़ होकर काशी के विजित राज्य की सीमा में प्रवेश कर रहे हैं। हाथी की सूँड़ में तथा बोधिसत्त्व के हाथ में निष्पताक ध्वज का एक नया रूप दिखलाई पड़ता है। इसे 'जयध्वज' कहते हैं। यहाँ भी ध्वजदंड एक-दम सीधा न होकर ऊपर की ओर से अर्धवर्तुलाकार मुड़ा हुआ है। इसी सिरे से माला का एक घना गुच्छा लटक रहा है ( चित्र संख्या ४ इ )। बोधिसत्त्व के हाथ में भी एक दूसरा जयध्वज है। यहाँ ध्वजदंड में दो घनी मालाएँ बँधी हैं ( चित्र संख्या ४ ई ), जो हाथी की चाल के कारण हवा में लहरा रही हैं। पीछे सेवक एक सपताक ध्वज लिए बैठा है। संभव है वह राजचिह्न हो।

निष्पताक ध्वज का गुप्तकालीन उदाहरण 'गरुड़ध्वज' है, जो गुप्त सम्राटों की सुवर्ण-मुद्राओं पर दिखलाई पड़ता है। यह उनका राजचिह्न था। ध्वजदंड पर पंख फैलाए हुए गरुड़ की पक्षी-रूप में प्रतिमा बनाई जाती थी। गुप्तों के परम भागवत होने के कारण उनके यहाँ गरुड़ध्वज का अपना विशेष महत्त्व था। नारद-पांचरात्र में गरुड़ध्वज का उल्लेख है (वाचस्पत्य कोश, 'ध्वज'), परंतु वहाँ मानव-शरीरधारी, ऊँची नाक वाले ( तुंगनासः ), सपक्ष गरुड़ की मूर्ति बनाने का विधान है।

प्रारंभ में निष्पताक ध्वजों का एक ऐसा प्रकार बतलाया जा चुका है जिसमें शोभा के लिये एक या दो छोटी पताकाएँ भी लगा दी जाती थीं। इस प्रकार का सुंदर उदाहरण अहिच्छत्रा से प्राप्त एक गुप्तकालीन ठीकरे पर मिलता है।[८] इसमें दो रथस्थ योद्धा—श्री टी०एन० रामचंद्रन् के मतानुसार युधिष्ठिर और जयद्रथ—युद्ध करते हुए दिखलाए गए हैं। उनके रथों पर क्रमशः शूकर और अर्धचंद्र से विभूषित ध्वज लगे हैं। ध्वजदंड के ऊपर वाली आकृतियों के नीचे छोटी-छोटी दो पताकाएँ हवा में लहराती हुई दिखलाई गई हैं। 'युक्तिकल्पतरु' के अनुसार निष्पताक ध्वज में यदि एक पताका भी लगाई जाती थी तो उसे 'विशालाख्य' ध्वज कहते थे और वह चक्रवर्तियों द्वारा व्यवहृत होती थी।[९] युद्ध-काल में इन निष्पताक ध्वजों के अंगों, अर्थात् उनपर स्थित चिह्नों, को ही देखकर स्वपक्ष और परपक्ष के योद्धा पहिचाने जाते थे। कालिदास हमें बतलाते हैं कि "शत्रुओं ने अज पर इतने अस्त्र बरसाए कि उनका रथ ढक गया..........अतएव अज का पता उनके रथ के ध्वजाग्र मात्र से ही लगता था" (ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः—रघु०,७।६० )।

## ध्वज के अलंकरण

सपताक एवं निष्पताक ध्वज अनेक प्रकार के अलंकरणों से सुशोभित किए जाते थे। सपताक ध्वजों के भी अग्रभाग पर चिह्नादिक बने होते थे, पर निष्पताक ध्वजों के समान ये अत्यधिक महत्त्व के नहीं होते थे। युक्ति-कल्पतरु से पता चलता है कि विभिन्न चिह्नों के आधार पर ध्वजों का अलग-अलग नामकरण किया जाता था। जैसे, ध्वज के अग्रभाग पर यदि हाथ का पंजा बना हो तो उसे 'जयहस्त' ध्वज, कहते थे ( युक्ति०, श्लोक ४९३ )। चामर इत्यादि से अलंकृत पताका 'सर्वबुद्धिदा' पताका कहलाती थी ( युक्ति०, पृ० ६९ )। मूल में 'चामरादि' पद से अभिप्राय चामर, चाष-पत्र, तथा चित्र या श्वेत वस्त्र है। चामरोंवाली 'सर्वबुद्धिदा' पताका के दर्शन अजंता के चित्रों में होते हैं ( गुफा १७ )। वहाँ इसके कई प्रकार लक्षित होते हैं। कुछ पताकाएँ तो ऐसी हैं जिनपर केवल एक चामर है, पर कुछ पर तीन तीन चामर बने हैं। किसी-किसी पर तीनों चामरों के बीच एक वर्तुलाकार वस्तु—

---

८—'एंशंट इंडिया', सं० ४, पृ० १७१, फ० ६६

९—पताका यदिहास्येका सर्वाम्ने वरवर्णिनी।
अयं ध्वजो विशालाख्यो विज्ञेयश्चक्रवर्तिनः॥—युक्ति०, पृ० ७०-७१

संभवतः मणि—भी दिखलाई पड़ती है। कुछ नमूनों में यह मणि स्वतंत्र रूप से लक्षित होती है (चित्र संख्या २, ३)। इन चिह्नों के सिवा धार्मिक चिह्नों से अलंकृत पताकाएँ भी कला के क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती हैं। इनमें त्रिरत्नारोपित कई पताकाएँ हैं। किसी पर त्रिरत्न धर्मचक्र के ऊपर बना रहता है (भारहुत, चित्र १०१) और किसी पर अकेला।[१०] जैनों के यहाँ ये चिह्न दूसरा रूप धारण कर लेते हैं। कला-कृतियों में जैन ध्वजों का कोई उदाहरण लेखक को ज्ञात नहीं है, पर हेमचंद्र ने उनका विवरण यों दिया है।—

श्येनो वज्रं मृगश्छागो नन्द्यावर्तो घटोऽपि च।
कूर्मो नीलोत्पलं शंखः फणिः सिंहोऽर्हतां ध्वजाः॥ (वाचस्पत्य में उद्धृत)

ध्वज का दूसरा अलंकरण उसके सिरे से लटकनेवाला मोतियों, मणियों या केवल डोरों का झब्बा है। इसे 'अवचूल' या 'अवचूड़' कहते थे। कला में कई अवचूलयुक्त ध्वज दिखलाई पड़ते हैं (साँची, फ० ६३)। साँचीवाले ध्वज का अवचूल मोतियों का बना हुआ है। इसके सिवा घंटा और किंकिणीजाल भी ध्वज के अलंकरण थे (अग्नि०, अध्याय ५९)। आज भी कई जैन-मंदिरों पर घंटायुक्त ध्वज दिखलाई पड़ते हैं। ध्वज पर घंटों की योजना संभवतः शोभा तथा मधुर नाद के लिये की जाती थी। बृहत्संहिता में तो ध्वज के और भी कई अलंकरण बतलाए गए हैं।[११] वहाँ घंटा, माला तथा किंकिणीजाल के साथ छत्र और पिटक का भी उल्लेख किया गया है। छत्रवाली बात तो स्पष्ट है, एक ही दंड पर ध्वज और छत्र के कई नमूने अजंता में मिलते हैं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है; परंतु पिटक का अर्थ स्पष्ट नहीं होता।[१२] कला में इस प्रकार का, अर्थात् पिटारी जैसा, कोई अलंकरण स्पष्टतया लक्षित नहीं होता।

---

१०—वोगल La Sculptures de Mathura, फलक १४ ए।

११—स किंकिणीजालपरिष्कृतेन स्रक्-छत्र-घंटा-पिटकान्वितेन।
समुच्छ्रितेनामरराड् ध्वजेन निन्ये विनाशं समरेऽरिसैन्यम्॥ (बृह०, ४३।७)

१२—मेरे एक बंगाली मित्र श्री विभूतिभूषण भट्टाचार्य ने मुझे बतलाया कि अब भी उनके यहाँ ध्वज में कौड़ियों से सजी हुई एक पिटारी बाँधी जाती है, जिसमें कई मांगलिक वस्तुएँ रखी रहती हैं। संभव है यह प्राचीन पिटक का आधुनिक रूप हो।—लेखक

## ध्वज के उपयोग

अब तक विभिन्न प्रकार के ध्वजों का विवेचन किया गया। अब संक्षेप में हमें यह देखना है कि ध्वज का उपयोग किन-किन स्थलों तथा अवसरों पर किया जाता था। राजचिह्न के रूप में, सेनापतियों के श्रेणी-निर्देशक के रूप में तथा विशेष सवारियों के अवसर पर शोभा-प्रसाधन के रूप में तो ध्वजों का उपयोग होता ही था, इनके अतिरिक्त और भी कई अवसरों पर इनका उपयोग किया जाता था। सम्मान-प्रदर्शनार्थ भी ध्वज का उपयोग करते थे। प्रसिद्ध चीनी पंडित य्‌यु-एन्‌-शांग (व्हेनत्सांग) ने हिड्डा नामक स्थान पर एक विहार में कई अन्य वस्तुओं के साथ चार रेशमी पताकाएँ भी अर्पित की थीं।[13] कला-कृतियों में स्तूपों के अगल-बगल (भारहुत, फ० ५२) या बोधिवृक्ष के आसपास[14] ध्वजों का अस्तित्व सम्मान-सूचक ही है। इसी लिये देवमंदिर तथा राजप्रासाद पर ध्वजारोपण का विधान किया गया। अग्निपुराण इस बात का निर्देश करता है कि जिस ध्वज को प्रासाद पर लगाना हो वह शिखर की ऊँचाई का आधा तथा द्वार की शाखा से दुगुना ऊँचा होना चाहिए (अग्नि, ५९)।

ध्वज केवल विशेष सम्मान का द्योतक ही रहा हो यह बात नहीं, कभी-कभी वह स्वयं देवता का स्थान भी ग्रहण किया करता था। इसका सबसे सुंदर उदाहरण बृहत्संहिता में वर्णित इंद्रध्वजोत्सव है। राजा एवं राज्य के कल्याण के लिये इस उत्सव का विधान है। ध्वज ही इसका पूजास्थान है। भाद्रपद शुक्ल द्वादशी को यह उत्सव मनाया जाता था। बृहत्संहिता में ध्वज के लिये लकड़ी के चुनाव से लेकर पूजनोपरांत महाध्वज के विसर्जन तक का बड़ा विशद वर्णन मिलता है। उससे ध्वजों के अलंकरणादिकों के विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसी से यह भी पता चलता है कि ध्वजोत्थापन आजकल के ही समान बड़े समारोह से हुआ करता था। अनेक वाद्यों के गंभीर घोष, ब्राह्मणों के वेदपाठ तथा मंगलाशीर्वाद, जनता द्वारा जयजयकारादि मंगल शब्दों के उच्चारण एवं प्रणाम इत्यादि के साथ धीरे-धीरे महाध्वज का उत्थापन होता था—

---

१३—भारतीय चीनी यात्री सुयेनच्वांग, प्रयाग, १९४२, पृ० ६३

१४—La Soulptures de Mathura, फ० १६

अविरत जनरावं मंगलाद्यैः प्रणामैः, पटुपटह मृदङ्गैः शंखभेर्यादिभिश्च ।
श्रुतिविहितवचोभिः पापठद्भिश्च विप्रैः, अशुभरहित शब्दं केतुमुत्थापयेत ॥ (बृह०४३।५१)

यह अनुमान करना सयुक्तिक होगा कि उत्सव के इस विशेष अवसर को छोड़कर अन्य अवसरों पर भी ध्वजोत्तोलन इसी प्रकार शान से किया जाता रहा होगा। ध्वज को उतारने की भी विशेष विधि थी। ध्यान इस बात पर दिया जाता था कि ध्वज धीरे-धीरे उतारा जाय, पक्षी के सदृश एकाएक नीचे न गिरने पाए—

तथा रक्षेन्नृपः केतुं न पतेच्छकुनिर्यथा ।
शनैः शनैः पातयेत्तां यथोत्थापनमादितः ॥ (बृह०, ४३।६४)

उत्थित ध्वज की रक्षा सभी प्रकार से करनी पड़ती थी। ध्वजभंग होना राजा के लिये अत्यंत अशुभ समझा जाता था और उसके लिये कई प्रकार के विधान लिखे हुए हैं। जैसे-जैसे समय बीतता गया, ध्वज कई देवताओं का प्रतीक बनता गया। आज भी बिहार के कई गाँवों में ऊँचे झंडे महावीर जी (हनुमान या कोई यक्ष ?) के नाम से स्थापित किए जाते हैं तथा सहारनपुर के आसपास ध्वज का पूजन शाकंभरी देवी के नाम से किया जाता है।

## विदेशों में ध्वज

प्राचीन भारतीय ध्वजों के विषय में इतनी चर्चा कर चुकने के उपरांत, प्राचीन विदेशी सभ्यता में ध्वजों की क्या स्थिति थी इसका विवेचन भी मनोरंजक होगा। विदेशी सभ्यताओं में प्राचीन सभ्यता मिस्र की मानी जाती है। वहाँ सेना के प्रत्येक विभाग के अलग-अलग ध्वज होते थे। अपनी भाषा में कहना हो तो ये निष्पताक ध्वज होते थे, जिनपर पवित्र पशु, नौका, व्यजन, राजा का नामपट्ट इत्यादि चिह्न शोभित रहते थे। मिस्र के तथा कहीं-कहीं असीरिया के इन निष्पताक ध्वजों पर एक-दो छोटी-छोटी झंडियाँ भी लटकती हुई दिखलाई पड़ती हैं। पारसीक लोगों में भी निष्पताक ध्वजों की प्रथा थी। इनके यहाँ भाले पर गिद्ध की मूर्ति रहा करती थी। कभी-कभी वे अपने उपास्य देव सूर्य को भी यह स्थान देते थे। अति प्राचीन काल में यूनान में भाले पर कवच का एक टुकड़ा लटकाकर ही ध्वज बना लिया जाता था। बाद में निष्पताक ध्वजों का भी अस्तित्व लक्षित होने लगता है। वहाँ प्रत्येक नगर के अलग-अलग चिह्न होते थे। उदाहरणार्थ, एथेन्स का चिह्न जैतून की शाखा और उल्लू तथा थीबीज का 'स्फिंक्स' था। व्यक्तिगत ध्वजों का प्रयोग

रोमन लोगों में अधिक था। इनके ध्वज कई प्रकार के होते थे जिनमें से एक अपने यहाँ के बौद्ध ध्वजों से ( जिनके दर्शन साँची और भारहुत की कला-कृतियों पर होते हैं ) बहुत-कुछ मिलता-जुलता था। ये ध्वज कई चिह्नों से अलंकृत भी किए जाते थे। परवर्ती काल में इन चिह्नों में राजा की मूर्ति भी सम्मिलित कर ली गई थी। कभी-कभी प्रमुख सेनापतियों की मूर्तियों को भी यह सम्मान प्रदान किया जाता था।[१५]

## उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वज का सभी प्राचीन देशों और संस्कृतियों में विशेष स्थान रहा है। व्यक्ति की, राष्ट्र की तथा धर्म की प्रतिष्ठा का वह एक केंद्र-बिंदु माना गया है। काल के प्रवाह के साथ-साथ उसके आकार-प्रकार में भेद अवश्य होते गए हैं, पर उसकी प्रतिष्ठा अविच्छिन्न और अप्रतिहत है। आज बीसवीं शताब्दी में भी राष्ट्रपति, मंत्रियों तथा मुख्य सेनापति से लेकर साधारण युद्धपोतों तक की प्रतिष्ठा का वहन ध्वज ही करता है। देश और धर्म का प्रतीक ध्वज ही है। चमत्कार यह है कि ध्वज का यह सम्मान एकदेशीय न होकर आज भी सार्वदेशिक है।

---

१५—विशेष विवरण के लिये द्रष्ट० इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, 'फ्लैग'।

# अभिलेखों में काव्य-सौंदर्य

[ श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ]

अभिलेखों से यहाँ तात्पर्य उन प्राचीन लेखों से है जो पत्थर की चट्टानों, शिला-स्तंभों, ताम्रपत्रों आदि पर लिखे हुए मिलते हैं। प्राचीन भारत में जब कि पुस्तकों के मुद्रण की व्यवस्था नहीं थी और हाथ से लिखे जानेवाले ग्रंथों का भी प्रयोग या तो नहीं था या बहुत कम था, उस समय भारत के विभिन्न भागों में शिलाओं और खंभों पर लेख खुदवाए गए। मौर्य सम्राट् अशोक से पहले के शिला-लेख इने-गिने ही उपलब्ध हुए हैं। अशोक के लेखों की संख्या काफी बड़ी है। इस प्रियदर्शी सम्राट् ने अपने कर्मचारियों और प्रजा के लिये अनेक राजाज्ञाएँ जारी कीं और उन्हें भारत के विभिन्न प्रदेशों में पहाड़ की चट्टानों और ओपयुक्त (पालिश-दार) खंभों पर उत्कीर्ण करवाया। अशोक के समय में प्रायः समस्त भारत में ब्राह्मी लिपि चलती थी, केवल उत्तर-पश्चिमी भाग में खरोष्ठी लिपि का चलन था। यह खरोष्ठी लिपि उर्दू की तरह दाहिनी से बाईं ओर लिखी जाती थी। अशोक के लेखों की भाषा पाली है। यह उस समय जन-साधारण की भाषा थी और इसी लिये इसका प्रयोग किया गया। अशोक के इन अभिलेखों में शासन एवं समाज-व्यवस्था-संबंधी जो विविध आदेश हैं उनके पढ़ने से पता चलता है कि इस प्रियदर्शी राजा को अपनी प्रजा का कितना अधिक ध्यान था और उसकी भलाई के लिये उसने किस प्रकार बहुमुखी कार्य किए।

अशोक के बाद अभिलेखों की परंपरा प्रायः अविच्छिन्न रूप से मिलती है। जिन राजवंशों ने भारत के विभिन्न भागों में शासन किया उन्होंने अपनी विजय, संधि, शासन-व्यवस्था, धार्मिक कार्यों आदि का विवरण अभिलेखों में अंकित कर-वाया है। इन अभिलेखों से पता चलता है कि किस काल में किस राजवंश का भारत में प्रभुत्व रहा और उसके समय में किस प्रकार के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक उत्थान-पतन हुए। यदि ये अभिलेख उपलब्ध न होते तो हमें प्राचीन भारत का इतिहास जानने में बड़ी कठिनाई होती और अनेक युगों के

संबंध में तो हम अन्य साधनों द्वारा बहुत कम जान सकते। इसका कारण यह है कि लिखित रूप में प्राचीन भारत का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता और उसकी जानकारी के लिये हमें ऐतिहासिक अभिलेखों आदि पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

प्राचीन अभिलेखों के मुख्य विषय हैं—राजवंशों का वर्णन, विजय-यात्रा, युद्ध, दान तथा जनता के हित में किए गए विविध कार्यों का उल्लेख। इन लेखों की रचना प्रायः राजदरबार के लेखकों और कवियों द्वारा गद्य या पद्य में की जाती थी। इसके बाद इस रचना को पथरकटों या धातु-उत्कीर्णकों को दे दिया जाता था। वे निर्देशानुसार उस लिपिबद्ध रचना को पत्थर या विभिन्न धातुओं के पत्तरों पर खोद देते थे। मिट्टी के फलकों तथा लकड़ी आदि पर भी कुछ प्राचीन लेख मिले हैं, पर उनकी संख्या अधिक नहीं है। यद्यपि अधिकांश प्राचीन लेख ठीक प्रकार से उकेरे हुए मिले हैं पर कुछ लेखों में खुदाई करते समय अनेक अशुद्धियाँ हो गई हैं। कहीं-कहीं भाषा-संबंधी दोष भी मिलते हैं। ऐसे लेख भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं जो विभिन्न आर्थिक एवं व्यापारिक संगठनों (श्रेणियों और निगमों) या विभिन्न धार्मिक संस्थाओं अथवा संभ्रांतवर्ग या जनसाधारण के द्वारा खुदवाए गए। इन अभिलेखों के उद्देश्य विविध प्रकार के होते थे। कुछ अभिलेखों में धर्मशाला, मंदिर, मठ और स्तूप बनवाने का जिक्र मिलता है तो कुछ में समाजोपयोगी संस्थाओं के लिये दान देने की चर्चा है। किन्हीं में शिल्प-व्यापार-संबंधी विज्ञापन हैं तो किन्हीं में यज्ञादि धार्मिक-क्रिया-कलापों का या मूर्तियों के निर्माण और उनके प्रतिष्ठापन का उल्लेख है। कहीं भिक्षुओं और ब्राह्मणों को दान देने या भोजन कराने का वर्णन है तो कहीं सार्वजनिक उपयोग के लिये कुआँ, प्याऊ, बगीचा आदि बनवाने का।

इस प्रकार ये अभिलेख भारत के इतिहास और संस्कृति पर बड़ा प्रकाश डालते हैं। अधिकांश पुराने अभिलेखों की भाषा संस्कृत, पाली, या प्राकृत है। केवल कुछ लेखों को छोड़कर शेष सभी ब्राह्मी या उससे निकली हुई लिपियों में हैं। इन अभिलेखों में तत्कालीन राजवंशों का वर्णन तथा संबंधित राजा के शासनकाल में हुए कार्य-विशेष का विवरण प्रायः सीधी-सादी भाषा में मिलता है। परंतु ऐसे लेख भी मिले हैं जिनमें भाषा और भाव संबंधी अनेक विशेषताएँ हैं। कहीं शब्दालंकारों की छटा है तो कहीं कल्पना की ऊँची उड़ान। कहीं प्रकृति की सुषमा का चित्रण है तो कहीं विविध भावों की सुंदर अभिव्यक्ति। अनेक अभिलेखों को पढ़ने से मालूम

होता है कि उनके रचयिता महान् कवि और कला-मर्मज्ञ थे। हम वाल्मीकि, भास, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, माघ आदि कवियों के विषय में उनके उत्कृष्ट ग्रंथों द्वारा जानते हैं परंतु अनेक प्राचीन कवि और लेखक, जिनकी रचनाएँ केवल पाषाण-खंडों या ताम्रपत्रों पर ही सुरक्षित रह सकी हैं, आज विस्मृत-से हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे अभिलेखों से उदाहरण प्रस्तुत करेंगे जिनसे पता चलेगा कि इन अज्ञात-नामा साहित्य-रचयिताओं में भी कितनी प्रतिभा और कवित्व-शक्ति थी।

मंदसौर (मध्यभारत) से मालव-संवत् ५२४ (४६७ ई०) का एक लेख मिला है, जो एक शिलाखंड पर खुदा हुआ है। इस लेख की रचना रविल नामक कवि के द्वारा की गई थी। इस लेख में गुप्त सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के लड़के गोविंद गुप्त का उल्लेख है। गोविंद गुप्त के सेनापति वायुरक्षित के पुत्र का नाम दत्तभट था, जिसके द्वारा लोकहित के अनेक कार्य संपादित किए गए। उसने एक स्तूप का निर्माण कराया और उसके समीप एक कुआँ, प्याऊ तथा वाटिका भी बनवाई। सर्वसाधारण के लिये उस कुएँ का उद्घाटन वसंत ऋतु में किया गया, जब कि कुआँ बनकर तैयार हो गया था। उस अवसर का संक्षिप्त वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

> भृंगागभारालसबालपद्मे काले प्रपन्ने रमणीयसाले।
> गतासु देशान्तरितप्रियासु प्रियासु कामज्वलनाहुतित्वम्।
> नात्युष्णशीतानिलकम्पितेषु प्रवृत्तमत्तान्यभृतस्वनेषु।
> प्रियाधरोष्ठारुणपल्लवेषु नवां वहत्सूपवनेषु कान्तिम्॥

अर्थात् 'कुएँ और स्तूप आदि का निर्माण उस वसंत ऋतु में पूरा हुआ जब कि बाल कमल भौंरों के भार से झुक गए थे और शाल वृक्षों की शोभा रमणीय हो गई थी; जब कि प्रोषितपतिका कामिनियाँ व्यथा का अनुभव कर रही थीं और जब ऐसी मंद हवाएँ बह रहीं थीं जो न तो अधिक गरम थीं और न अधिक ठंडी। उन हवाओं के संचरण से कुंजों के लता-वृक्षों में कंपन उत्पन्न हो रहा था। उस समय मत्त कोकिला मृदु स्वर से आलाप कर रही थी और उपवनों की नवीन कोंपलें सुंदरियों के अधरोष्ठों की तरह अरुण वर्ण की हो गई थीं।'

कवि ने उस कुएँ के ठंडे जल का भी वर्णन किया, जो उधर आनेवालों की प्यास बुझाता था—'उस कुएँ का जल ऐसा शांतिदायक था जैसा दो घनिष्ठ मित्रों

का आपस में मिलन होता है और ऐसा निर्मल था जैसा मुनियों का मन होता है। पथिकों के लिये वह जल उसी प्रकार हितकारी था जैसे कि गुरुजनों की सीख होती है'—

यस्मिन्सुहृत्संगमशीतलं च मनो मुनीनामिव निर्मलं च।
वचो गुरूणामिव चाम्बु पथ्यं पेपीयमानः सुखमेति लोकः॥

मंदसौर में शिवना नदी के घाट पर लगे हुए एक अन्य बड़े शिलापट्ट पर सं० ५२९ (४७२ ई० का एक लेख खुदा है। इसके लेख का नाम वत्सभट्टि दिया हुआ है। चौवालीस श्लोकों में यह लेख समाप्त हुआ है और उसमें शार्दूलविक्रीडित, वसंततिलका, आर्या, उपेंद्रवज्रा, मंदाक्रांता आदि छंदों का व्यवहार किया गया है। लेख में अनुप्रास अलंकार का सुंदर प्रयोग मिलता है। अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक की छटा स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है।

इस लेख में दशपुर (जो मंदसौर का पुराना नाम था) के एक विशाल सूर्य-मंदिर का वहाँ के रेशम के व्यवसायियों द्वारा जीर्णोद्धार कराए जाने का वर्णन है। यह मंदिर कुछ समय पूर्व इन व्यवसायियों की श्रेणी द्वारा बनवाया गया था। लेख में दशपुर नगर तथा यहाँ के निवासियों के काव्यमय वर्णनों के साथ प्रकृति का मनोहर चित्रण मिलता है। उदाहरण के लिये कुछ श्लोक यहाँ दिए जाते हैं। दशपुर नगर का वर्णन देखिए—

विलोलवीचीचलितारविंदपतद्रजः पिंजरितैश्च हंसैः।
स्वकेसरोदारभरावभुग्नैः क्वचित्सरास्यम्बुरुहैश्च भाति ॥८॥
स्वपुष्प-भारावनतैर्नगेन्द्रैर्मदप्रगल्भालिकुलस्वनैश्च।
अजस्रगाभिश्च पुरांगनाभिर्वनानि यस्मिन्समलंकृतानि ॥९॥
चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लता चित्रसिताभ्रकूट-तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥१०॥

अर्थात् 'उस दशपुर में स्थान-स्थान पर सरोवर थे, जिनमें उठी हुई चंचल लहरें कमल-पुष्पों को हिला-डुला देती थीं, जिससे कमलों का पीला पुष्परज सरोवर पर तैरते हुए हंसों की पीठ पर गिर पड़ता था और उन सफेद हंसों को पीला कर देता था। किसी तालाब में अपने केसर के भार से कमलिनियाँ झुकी जा रही थीं। उस नगर के उपवन फूलों से लदे हुए विटपों से सुशोभित थे, जिनपर मत्त भौंरे गूँज रहे थे। नगर की वनिताएँ उन उपवनों में विविध प्रकार के गीत गा रही थीं।

और उस दशपुर में विशाल भवन थे, जिनके ऊपर पताकाएँ फहरा रही थीं। ऊँची सफेद अट्टालिकाएँ, जिनके ऊपर सुंदरियाँ बैठी हुई थीं, ऐसी लग रही थीं मानो बिजली से संयुक्त शुभ्र मेघमालाएँ हों।'[1]—

इस शिलालेख में दशपुर के रेशम व्यवसायियों द्वारा तैयार किए गए वस्त्रों का भी अत्यंत रोचक वर्णन किया गया है—

तारुण्यकान्त्युपचितोऽपि सुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना समलंकृतोऽपि।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदग्र्यां यावन्न पट्टमय वस्त्रयुगानिधत्ते ॥२०॥

अर्थात् 'यौवन और सौंदर्य से संपन्न महिलाएँ, चाहे वे स्वर्णहार तथा तांबूल-पुष्पादि से अलंकृत ही क्यों न हों, तब तक अपने शृंगार को अपूर्ण मानकर प्रिय के पास जाने में लजाती हैं जब तक उनके पास दशपुर का बना हुआ रंगीन रेशमी वस्त्रयुगल न हो।'

प्राचीन काल में विज्ञापन का यह कैसा सुंदर उदाहरण है! दूसरे श्लोक में कपड़ों की बारीकी और उनकी लोकप्रियता का कथन है—

स्पर्शवता वर्णान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन।
यैः सकलमिदं क्षितितलमलंकृतं पट्टवस्त्रेण ॥२१॥

अर्थात् 'ये वस्त्र छूने में मुलायम हैं, विविध रंग-वैचित्र्य से युक्त हैं और आँखों को आनंद प्रदान करनेवाले हैं। यह सारी पृथिवी इन रेशमी वस्त्रों द्वारा अलंकृत कर दी गई है।'

गिरिनार पहाड़ी की चट्टान पर गुप्त संवत् १३७ (४५६-४५७ ई०) का एक लेख खुदा है, जिसमें गुप्त सम्राट् स्कंदगुप्त के शासनकाल में सौराष्ट्र प्रदेश में सुदर्शन नामक एक झील पर बाँध बाँधे जाने का वर्णन आया है। इस झील से बहुत दिनों तक सिंचाई का काम लिया जाता रहा। परंतु दुर्भाग्य से एक बार भीषण वर्षा के कारण उसका बाँध टूट गया। इससे झील का पानी फूटकर बाहर उमड़ चला। अब जनता में बड़ी खलबली मच गई और लोग इस आकस्मिक घटना के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। अंत में सौराष्ट्र के तत्कालीन राज्यपाल पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने बड़ी कुशलता के साथ बाँध की मरम्मत कराकर लोगों के कष्ट को दूर किया और सुदर्शन झील फिर अपनी पूर्वावस्था में आ गई।

---

१—इसकी तुलना कालिदास के अलका-वर्णन से की जा सकती है। मेघदूत के उत्तरार्ध में अलका नगरी की उपमा मेघ के साथ और वहाँ की रमणियों की उपमा बिजली से दी गई है—विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः (मेघ० २।१)।

इस लेख में मालिनी, उपजाति, इंद्रवज्रा आदि छंदों का विविध स्थलों पर धाराबाहिक प्रयोग किया गया है। स्कंदगुप्त तथा उसके शासन का एवं पर्णदत्त तथा चक्रपालित के गुणों और कार्यकलापों का वर्णन मनोग्राही हुआ है। भीषण वर्षा के कारण सुदर्शन के बाँध के टूटने तथा उसके कारण लोगों की व्याकुलता को बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

अथ क्रमेणाम्बुदकाल आगते निदाघकालं प्रविदार्य तोयदैः।
ववर्ष तोयं बहु सन्ततं चिरं सुदर्शनं येन विभेद चात्वरात्॥
इमाश्च या रैवतकाद्विनिर्गताः पलाशिनीयं सिकताविलासिनी।
समुद्रकान्ताश्चिरबन्धनोषिताः पुनः पतिं शास्त्रयथोचितं ययुः॥
अवेक्ष्य वर्षागमजं महोद्भ्रमं महोदधेरूर्जयता प्रियेप्सुना।
अनेकतीरान्तजपुष्पशोभितो नदीमयो हस्त इव प्रसारितः॥
विषादमानाः खलु सर्वतो जनाः कथं कथं कार्यमिति प्रवादिनः।
मिथो हि पूर्वापररात्रमुत्थिता विचिन्तयां चापि बभूवुरुत्सकाः॥
अपीहलोके सकले सुदर्शनं पुमान्हि दुर्दर्शनतां गतं क्षणात्।

अर्थात् 'जब वर्षा ऋतु ने आकर मेघों के द्वारा ग्रीष्म ऋतु को विदीर्ण कर दिया, तब इतनी भीषण और लगातार वृष्टि हुई कि सुदर्शन झील का बाँध टूट गया और पलाशिनी तथा सिकताविलासिनी आदि नदियाँ जो रैवतक पर्वत से निकलती हैं, उमड़कर तेजी से बह चलीं। ग्रीष्म में वे सूख गई थीं, जिससे अपने पति समुद्र से उनका बिछोह हो गया था। अब वे शास्त्रोचित मर्यादा के अनुरूप समुद्र से मिलने के लिये तेजी से दौड़ पड़ीं। भीषण वर्षा के कारण उत्पन्न परिस्थिति से कहीं समुद्र घबड़ा न जाय, इसलिये ऊर्जयत् नामक पहाड़ ने अपने से निःसृत नदियों को, जिनके तट पुष्पों से अलंकृत थे, समुद्र के पास तक पहुँचा दिया, मानो उसने उन नदियों के रूप में अपनी मित्रता का हाथ बढ़ा दिया हो। और, लोगों की दशा तो बड़ी दयनीय बन गई। चारों तरफ से इकट्ठे होकर शोकमग्न लोग एक-दूसरे से पूछने लगे कि अब क्या करें, कैसे करें। दो रातें उन्होंने जागकर बिता दीं और घबराहट के साथ सोचते रहे कि इस कष्ट को कैसे दूर किया जाय। जो झील अभी तक अपना 'सुदर्शन' (देखने में अच्छी लगनेवाली) नाम चरितार्थ करती थी, वही अब भयंकर लगने लगी।' इसके बाद लेख में आया है कि किस प्रकार बाँध की आवश्यक मरम्मत कराकर चक्रपालित ने लोगों का कष्ट दूर किया।

कदंबराज शांतिवर्मा का तालगुंड-लेख भी काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह लेख मैसूर राज्य के शिमोगा जिले में तालगुंड नामक स्थान पर प्रणवेश्वर के भग्न मंदिर के सामने एक शिला पर उत्कीर्ण है। इसका समय ई० छठी शती का प्रारंभ है। इस लेख से हम यहाँ केवल एक उदाहरण देते हैं। लेख के इकतीसवें श्लोक से पता चलता है कि उत्तर-भारत के प्रसिद्ध गुप्त-वंश तथा कतिपय अन्य राजवंशों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित कर कदंबों ने अपनी राजनीतिक शक्ति को मजबूत बनाया था। इस बात को लेख के रचयिता ने, जिसका नाम कुब्ज दिया हुआ है, इस प्रकार व्यक्त किया है—

गुप्तादिपार्थिवकुलाम्बुरुहस्थलानि स्नेहादरप्रणयसंभ्रमकेसराणि ।
श्रीमन्त्यनेकनृपषट्पदसेवितानि यो बोधयद्दुहितृदीधितिभिर्नृपार्कः ॥ ३१ ॥

अर्थात् 'कदंबराज शांतिवर्मा ने, जो सूर्य के समान तेजस्वी था, गुप्तादि उन राजवंशों से अपना संबंध जोड़ा जो अस्फुट कमल-पुष्पों के समान थे, जिनमें स्नेह आदर, प्रेम और प्रतिष्ठा पुंजीभूत थी और जो भ्रमररूपी अनेक शक्तिशाली राजाओं द्वारा सेवित थे। ये संबंध शांतिवर्मा ने अपनी कन्याओं को उक्त राजकुलों में विवाहित करके स्थापित किए—उन कन्याओं को जो सूर्य की उन किरणों के सदृश थीं जो कमलावली को प्रफुल्लित और विकसित करती हैं।'

उक्त श्लोक का उत्प्रेक्षालंकार ध्यान देने योग्य है। कमलावली तब तक प्रफुल्लित एवं विकसित नहीं होती जब तक सूर्य की किरणें उसपर न पड़ें। कवि ने जिस कुशलता के साथ कन्या-प्रदायी अपने राजा की संबंधित राजकुलों की अपेक्षा उच्चता और महानता की ओर संकेत किया है वह प्रशंसनीय है। कवि के अनुसार गुप्तादि राजकुल कदंब-वंश से संबंध स्थापित होने के बाद ही अधिक अभ्युदय एवं विकास को प्राप्त हुए।

लड़कियों की सूर्य-किरणों के साथ उपमा भी आकर्षक है। कालिदास ने राम के पौत्र अतिथि के दूतों की उपमा सूर्य-किरणों से दी है और लिखा है कि गुप्तचर राज्य के सभी मामलों को उसी तरह प्रकाश में ले आते थे जैसे कि सूर्य के प्रकाश में रखी हुई चीज छिपी नहीं रह सकती—

न तस्य मंडले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः ।
अदृष्टमभवत्किंचिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥ (रघु० १७।४८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक प्राचीन अभिलेखों के रचयिता महान् कवि थे। प्रयाग-प्रशस्ति के लेखक हरिषेण, मंदसौर-लेखों के कवि रविल तथा वत्सभट्टि,

चालुक्यराज पुलकेशिन् के ऐहोल-लेख के रचयिता रविकीर्ति, तालगुंड-लेख के कर्त्ता कुब्ज तथा अन्य कितने ही अभिलेखकार निस्संदेह उच्च कोटि के कवि थे। दुर्भाग्य से इन तथा अन्य कवियों में से अनेक के नाम केवल एक या दो शिलालेखों में ही बचे हैं। कुछ के नाम साहित्यिक ग्रंथों में भी अन्य लेखकों के द्वारा उल्लिखित हुए हैं। परंतु अधिकांश कवियों के विषय में केवल उनके नामों के अतिरिक्त हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। ऐसे अभिलेख भी बड़ी संख्या में मिले हैं जिनमें रचयिताओं के नाम या तो दिए ही नहीं गए या टूट गए हैं। भारतीय परंपरा के अनुसार बहुत से कवि अपनी कृतियों में अपना नाम देना ठीक नहीं समझते थे, क्योंकि वे आत्मश्लाघा एवं आत्म-विज्ञापन को वांछनीय नहीं मानते थे। भवभूति-जैसे लेखक, जिन्होंने दावे के साथ लिखा है—'उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा,' अपवादस्वरूप ही कहे जा सकते हैं। अभिलेख-रचयिताओं में भी कतिपय ऐसे व्यक्ति हुए हैं। उनमें से आंध्र के चौदहवीं शती के राजा अन्नवेम के शासनपत्र के लेखक त्रिलोचनार्य का उदाहरण यहाँ दिया जा सकता है। शासनपत्र के अंत में यह कवि अपने संबंध में लिखता है—

महानटजटाछटानटदमन्दमन्दाकिनी-
कलक्कणितकंकणव्रजविजृम्भिवाग्गुम्फनः।
कविः कविकुलोद्भवो भुवनभव्यदिव्योदयः।
शिवागमविशारदो जयति शारदावल्लभः॥

अर्थात् 'त्रिलोचनार्य कवि की जय हो, जो न केवल स्वयं कवि है अपितु कवियों के वंश में उत्पन्न हुआ है और जिसका भव्य प्रकाश भुवन में व्याप्त है, जो शैवागम का पंडित है और सरस्वती का स्नेहपात्र है, जिसके काव्य के शब्द वैसे ही सरस और मधुर हैं जैसे शिव जी के जटाजूट के ऊपर नृत्य करनेवाली मंदाकिनी के कंकण से निःसृत शब्द।'

अंत में हम उन अप्रसिद्ध महाकवियों का अभिनंदन करते हैं, जिनकी महान् कृतियाँ अभिलेखों में सुरक्षित हैं—जो कृतियाँ न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं बल्कि साहित्य की भी अमूल्य निधियाँ हैं।

# अशोक की महत्ता

[ श्री रमाशंकर त्रिपाठी ]

जब हम भारत के अतीत की ओर दृष्टिपात करते हैं तो एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि वह अधिकतर गौरवपूर्ण रहा है, यद्यपि उसको कभी-कभी काल के गर्त में गोता भी लगाना पड़ा है। उसका इतिहास पराक्रम, दार्शनिक विचार तथा धर्म-भावना की एक उज्ज्वल गाथा है। प्राचीन भारत में अनेक ऋषि, तपस्वी, शौर्य-संपन्न व्यक्ति तथा प्रतिभाशाली सम्राट् हुए हैं, और आज भी हम उनके उच्चादर्श एवं जीवन-कार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे ही महान् पुरुषों में अशोक की भी गिनती की जाती है। उसके चरित्र तथा गुणों और सफल उद्योगों का पूर्ण रूप से दिग्दर्शन कराने के लिये ऐतिहासिकों ने उसकी तुलना संसार के विभिन्न देशों के कतिपय शक्तिशाली एवं प्रतापी राजाओं से की है। यथा, कुछ विद्वानों के मतानुसार जैसे रोम के अधिपति कान्स्टेंटाइन (Constantine) ने ईसाई धर्म को अपनाया और उसके प्रसार में सहायता दी, उसी प्रकार अशोक के प्रयत्न से बौद्ध धर्म की उन्नति हुई और वह जगत में फैला। ज्ञान तथा सात्विकता में अशोक मार्कस आरेलियस (Marcus Aurelius) के सदृश माना जाता है; और धार्मिक सहिष्णुता एवं सुसंगठित शासन-पद्धति के कारण इसकी गणना अकबर जैसे भारतीय नरेशों के साथ की जाती है। इस लेख में हम संक्षेपतः यह दिखलाने का प्रयास करेंगे कि इतिहास के रंगमंच पर अशोक को इतना ऊँचा स्थान क्यों दिया जाता है।

अशोक की महत्ता जानने के लिये सबसे प्रथम हमें उसके आदर्श पर ध्यान देना चाहिए। यहाँ यह कह देना उचित है कि प्रत्येक शासक का यह मूल कर्तव्य है कि वह प्रजा-रक्षण, प्रजा-परिपालन तथा प्रजा के योग-क्षेम का संवर्धन करे। अब प्रश्न यह है कि इस कसौटी पर अशोक कहाँ तक खरा उतरता है। छठे शिलालेख में उसने स्वयं यह घोषित किया है—

नास्ति हि कंमतरं सर्वलोकहितत्पा ( त्वा ) य च किंचि पराक्रमामि अहं किंति भूतानं आनंणं गछेयं इध च नानि सुखापयामि परत्रा च स्वगं आराधयंतु।

अर्थात् "सब लोगों की भलाई के अतिरिक्त मुझे अधिक करणीय काम कोई नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ, वह क्यों ? इसीलिये कि जीवधारियों के ऋण से मुक्त होऊँ, और उन सबको इस संसार में सुख मिले और आगे चलकर स्वर्ग"। इस घोषणा से, जिसमें अशोक ने मनुष्य के सामान्य तीन ऋणों (ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण) के अतिरिक्त राजा के लिये एक चौथे ऋण (जीव-ऋण) की कल्पना की है, दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं; प्रथम, यह कि अशोक प्राणिमात्र अर्थात् मनुष्य एवं सब जीव-जंतुओं का कल्याण चाहता था; और दूसरे, वह उनके केवल ऐहिक सुखों से ही संतुष्ट न होकर यह भी चाहता था कि वे परलोक में आनंद तथा शांति प्राप्त करें। इस ध्येय को सामने रखकर अशोक ने अपनी प्रजा तथा अन्य सब जीवों के हित के लिये अनेक प्रकार के उपाय किए। द्वितीय शिलालेख में अशोक ने स्वयं अपने प्रयत्नों का वर्णन किया है। यथा,

सर्वत (त्र) देवानं पि (प्रि) यस पि (प्रि) यदसिनो राञो द्वे चिकीछ कता मनुस-चिकीछा च पसु-चिकीछा च ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च पसो (प) गानि च यत यत नास्ति सर्वत (त्र) हारापितानि च रोपापितानि च मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति सर्वत हारापितानि च रोपापितानि च पंथेसू कूपा खानापिता वं (व्र) छा च रोपापित (ा) परिभोगाय पसु-मनुसानं।

अर्थात् "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने सब स्थानों में दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबंध किया है, एक मनुष्यों की चिकित्सा का और दूसरी पशुओं की चिकित्सा का। मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी औषधियाँ जहाँ-जहाँ नहीं हैं वहाँ-वहाँ वे लाई गई और लगाई गई। इसी प्रकार मनुष्यों तथा पशुओं के उपभोग के लिये जहाँ-जहाँ फल और मूल नहीं हैं वहाँ-वहाँ वे लाए गए और लगाए गए, और मार्गों में कुएँ खुदवाए गए तथा पेड़ लगवाए गए"। सप्तम स्तंभलेख से यह भी विदित होता है कि अशोक ने यात्रियों के लिये धर्मशालाओं का निर्माण कराया था, आधे कोस में कूप खुदवाए थे, और पशु-मनुष्यों के परिभोग के लिये आम्र-वाटिकाएँ लगवाई थीं—

मगेसु पि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगानि होसंति पसु-मुनिसानं अंबा-वाडिक्या लोपापिता अढ (कोसि)—क्यानि पि मे उदुपानानि खानापितानि निसि (ढ) या च कालापिता।

यह सब सुकार्य अशोक ने अपने राज्य में ही नहीं किया था, वरंच अपने समीपस्थ चोल, पांड्य, सतियपुत्र और केरलपुत्र के स्वतंत्र दक्षिणी राज्यों में तथा

सुदूरवर्ती यवन-राज्यों में भी किया था ( द्वितीय शिलालेख )। त्रयोदश शिलालेख के अनुसार अशोक के समकालीन यवन राजाओं के नाम ये थे—अंतियोकस (Antiochos II Theos of Syria), तुरमय (Ptolemy II Philadelphos of Egypt ), अंतकिन ( Antigonas Gonatos of Macedonia ), मग ( Magas of Cyrene ), और अलिकसुंदर ( Alexander of Epirus or Corinth )। अतः अशोक की कल्याणकारी नीति स्वदेश तक ही सीमाबद्ध न थी, अपितु वह सर्वत्र विदेशों में भी अपना धन खर्च कर परोपकार करने में निरंतर उद्यत रहता था। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि उसने "वसुधैव कुटुंबकम्" के उच्चादर्श को, जहाँ तक हो सका, कार्यरूप में परिणत किया।

अशोक ने प्राणियों के सांसारिक सुख के उपर्युक्त साधन ही नहीं एकत्रित कर दिए थे, अपितु उसने अपने साम्राज्य में जीव-हिंसा का भी नितांत निषेध कर दिया था। वह यह नहीं सहन कर सकता था कि अकारण किसी जीव को कुछ भी क्षति पहुँचे, इसलिये उसने अपने लेखों में "प्राणानां अनारम्भो" (शिलालेख ३,४,११; स्तंभलेख ७), "प्रणानम् संयमो" ( शिलालेख ९ ), "अविहिसा भूतानम्" ( शिलालेख ४, स्तंभलेख ७ ) का उपदेश बारंबार दिया है। पहिले अशोक स्वयं मांसाहारी था और उसकी पाकशाला के लिये प्रतिदिन सहस्रों जीवों का वध होता था, जैसा प्रथम शिलालेख के इस वाक्य से स्पष्ट है—

पुरा महानसम्हि देवानं पिं (प्रि) यस पिं (प्रि) यदसिनो राञो अनुदिवसं बहूनि पां (प्रा) ण-सत-सहर्सा (स्रा) नि आरभिसु सूपाथाय।

किंतु जबसे उसने अहिंसा तथा दयाप्रधान बौद्ध धर्म की शरण ली, तब से अन्य सब प्राणियों का वध उसने बिलकुल रोक दिया और कुछ दिनों के लिये केवल एक मृग और दो मोर मारने की आज्ञा दी, और वह मृग भी नित्य नहीं मारा जाता था—

से अज यदा अयं धंम-लिपी लिखिता ती एव पां (प्रा) णा आरभरे सूपाथाय द्वो मोरा एको मगो सो पि मगो न ध्रुवो।

यह नियमित हिंसा भी उसकी आत्मग्लानि का कारण थी, और उसने शीघ्र ही इन तीनों जीवों के वध को बंद करने की प्रतिज्ञा की—

एते पि ती (त्री) पां (पा) णा पछा न आरभिसरे।

इस प्रकार अपने सिद्धांतों के वशीभूत होकर अशोक ने अपने जिह्वासुख को बिलकुल तिलांजलि दे दी। उसने अपने पूर्वजों की एक प्रथा को भी जीव-रक्षा के

लिये रोक दिया था। आठवें शिलालेख में वह कहता है कि पहिले राजा लोग विहार-यात्रा करने जाते थे। इसमें आखेट तथा अन्य कई प्रकार के 'अभीरमकानि' अर्थात् मन बहलानेवाली बातें होती थीं, किंतु ये सब आमोद-प्रमोद उसके सात्विक मन में खटकते थे, इसलिये अशोक ने "विहार-यात्रा" के स्थान में "धम्म-यात्राएँ" चलाईं जिनमें ब्राह्मण-श्रमणों का दर्शन, उन्हें दान, वृद्धों का दर्शन, सुवर्ण-वितरण, जनपद ( राज्य ) के लोगों का दर्शन, धर्म का उपदेश और धर्म-विषय की जिज्ञासा इत्यादि अच्छे काम होते थे। यथा—

अतिकातं अंतरं राजानो विहार-यातां अयासु एत मगव्या (व्या) अञानि च एतारिस (।) नि अभीरमकानि अहुंसु सो देवानंपियो पियदसि राजा दसवसभिसितो संतो अयाय संबोधि तेनेसा धंम-याता एतयं होति बाम्हण-समणानं दसणे च दाने च थैरानं दसणे (च) हिरंण-पटिविधानो च जानपदस च जनस दसनं धर्मानु (स) स्टी च धमपरिपुछा च।

दयाभाव से प्रेरित होकर अशोक ने प्रथम शिलालेख के अनुसार "समाजों" का भी होना बंद कर दिया था, क्योंकि इन समाजों में विविध प्रकार के खेल-कूद तथा गाने-बजाने के अतिरिक्त हिंसा अधिक मात्रा में होती थी और मांस का वितरण लोगों में खूब होता था—

न च समाजो कतव्वो (व्यो) बहुकं हि दोसं समाजम्हि पसति देवानं पि (प्रि) यो पि (प्रि) यदसि राजा।

किंतु एक दूसरे प्रकार के "समाज" थे जिनमें हिंसा नहीं होती थी, और उनको अशोक नहीं रोकना चाहता था—

अस्ति पि तु एकचा समाजा साधु-मता देवानं पि (प्रि) यस पि (प्रि) यदसिनो राञो।

इस बड़ी जीव-रक्षा के कारण वह द्वितीय स्तंभलेख में यह दावा करता है कि मैंने द्विपद, चतुष्पद और पक्षि-वारिचर पर अनेक अनुग्रह किए, यहाँ तक कि मैंने उनके प्राणों की भी दक्षिणा दी—

दुपद-चतुपदेसु पखि-वालिचलेसु विविधे मे अनुगहे कटे आ पान दाखिनाये।

इस कथन में लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं जान पड़ती, क्योंकि अशोक ने पाँचवें स्तंभलेख में जिन जीवों के वध का बिलकुल निषेध किया उनकी सूची से स्पष्ट है कि उसके राजत्वकाल में "अहिंसा परमो धर्मः" का मनोहर निनाद चतुर्दिक् गूँज रहा था।

अशोक ने अपनी प्रजा के हित तथा सुख-संपादन के लिये सतत "धम्म" के प्रचार का भी बीड़ा उठाया। वह स्वयं तो दृढ़ बौद्ध धर्मावलंबी था तथापि उसने लोगों का लक्ष्य अपना निजी धर्म नहीं बनाया। यहाँ यह उल्लेख्य है कि नवें शिला-लेख के अनुसार अशोक ने धर्म का जामा पहिने हुए प्रचलित रीति-रिवाजों ( "मंगल" ) को निरर्थक कहकर तिरस्कृत किया है और उनकी जगह उसने लोगों को "धम्ममंगल" करने का आदेश दिया है। किंतु "चत्तारि अरिय सत्यानि", "मज्झिम मग्ग" तथा "निब्बान" आदि जो बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धांत हैं उनके बारे में अशोक अपने लेखों में बिलकुल चुप है। उसकी धार्मिक नीति संकीर्ण न थी, और वह अपनी प्रजा का धर्म-परिवर्तन करने के लिये उत्सुक न था। यदि वह बौद्ध धर्म ऐसे किसी विशेष धर्म के प्रचार में अपनी सारी संपत्ति एवं शक्ति लगा देता तो वह निस्संदेह अपने उच्च पद का दुरुपयोग करता। उसने जिस "धम्म" (धर्म) का सदु-पदेश दिया वह सबको ग्राह्य था, और उससे हमें अशोक की उदारता तथा दूरदर्शिता का पूर्ण परिचय मिलता है। वह दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता, साधुता, संयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति आदि सद्‌गुणों को अपनाने के लिये मनुष्यों को उत्प्रेरित करता है। वह यह भी चाहता है कि लोग पाप, निष्ठुरता, क्रोध, मान, ईर्ष्या इत्यादि दुर्गुणों से दूर रहें और वे माता-पिता, गुरुजन और बड़ों की शुश्रूषा करें, और ब्राह्मण, श्रमण, बंधु, मित्र, परिचित, दास, भृत्य तथा दुःखी एवं दीन पुरुषों का यथावत् आदर एवं सत्कार करें। वास्तव में ये सिद्धांत सब धर्मों की संपत्ति तथा सार हैं।

संसार के इतिहास में अशोक पहिला सम्राट् था, जिसने लोगों को धर्म का तत्त्व समझाया और उनके चित्त को वाद-विवाद संबंधी बातों से दूर हटाया। वह धार्मिक कट्टरता और द्वेष-भाव को घृणा की दृष्टि से देखता था। वह स्वयं सब धर्मा-वलंबियों की पूजा करता था, जैसा बारहवें शिलालेख से स्पष्ट है—

देवनं प्रियो प्रियद्रशि रय सव—प्रषंडनि प्रव्रजित ( नि ) ग्रहथनि च पुजे चि दनेन विविधये च पुजये।

उसने बौद्धों के अतिरिक्त ब्राह्मण, निर्ग्रंथ तथा आजीवक इत्यादि को अपने दान और मान का सदा भागी बनाया। आजीवकों के लिये तो उसने गया के निकट बराबर नाम के पर्वत में विशाल गुफाएँ बनवाईं। इसी प्रकार अशोक ने अपनी प्रजा को भी धार्मिक सहिष्णुता का मंत्र पढ़ाया। वह चाहता था कि वृथा "आत-

प्रषंड-पुज" ( आत्म-पाषंड-पूजा ) अथवा "पर-पषंड-गरह" ( पर-पाषंड-गर्हा ) न हो, क्योंकि स्वधर्म-प्रेम से प्रेरित होकर दूसरों के सिद्धांतों की निंदा सर्वथा अनर्थ-कारी होती है—

किति अत-पषंड-पुज व प ( र ) पषंड-गर ( ह ) न व नो सिय ( अ ) पकर-णसि लहुक व सिय तसि तसि प्रकर ( णे ) पुजेत विय व चु पर-प्रषं ( ड ) तेन तेन अकरेन ए ( वं ) करतं अत ( प्र ) षंडं वढेति पर-प्रषंडस पि च उपकरोति तद अनथ क ( र ) मि ( नो ) अतप्र ( षंड ) क्षणति ( पर ) प्रषडस च अपकरोति यो हि कचि अत-प्रषडं पुजेति ( पर ) ( प्र ) षड गरहति सव्रे अत-प्रषड-भतिय व किति अत प्रषंडं दिपयमि ति सो च पुन तथ करतं सो च पुन तथ करतं व ( ढ ) तरं उपहंति ।

सबको उचित है कि वाक्संयम ("वचोगुप्ति") रक्खें और "बहुश्रुत" हों, अर्थात् अन्य धर्मों को श्रद्धापूर्वक सुनने और समझने की चेष्टा करें, जिससे पारस्प-स्परिक "समवाय"—मेलजोल—बढ़े। ये कैसे उच्च कोटि के विचार हैं जो आज बीसवीं शताब्दी में भी भारतवर्ष के सांप्रदायिक वैमनस्य और झगड़ों को मिटाने के लिये आदर्श सिद्ध हो सकते हैं।

अशोक की एक और विशेषता यह थी कि उसका हृदय प्रजा-वात्सल्य से ओत-प्रोत था, और प्रजा के प्रति उसका व्यवहार पिता-तुल्य था। वह कलिंग के दोनों लेखों में यह घोषणा करता है—

सवे मुनिसे पजा ममा अथ पजाये इछामि हक ( किति ) स ( वे ) न ( हि ) त सुखेन हिदलो ( किक ) पाललोकिके ( न ) ( यूजेवू ) ( ति ) तथा ( सव ) ( मुनि ) सेसु पि ( इ ) छामि ( ह ) क।

अर्थात् सब मनुष्य मेरी संतान के सदृश हैं, और जैसे मैं चाहता हूँ कि मेरी संतान इहलौकिक और पारलौकिक सुख का भोग करे उसी प्रकार मैं सबका कल्याण चाहता हूँ। आश्चर्य की बात तो यह है कि उसकी ऐसी भावना केवल अपनी प्रजा के ही प्रति न थी, किंतु वह सीमांत जातियों पर भी कृपादृष्टि रखता था। द्वितीय कलिंग-लेख में अशोक कहता है—

सिया अंतानं ( अ ) विजितानं किं छांदे सु लाजा अफेसु ति एताका ( वा ) मे इछा ( अं ) तेसु पापुनेवु लाजा हेवं इछति अनु ( विगि ) न हे ( यू ) ममियाये ( अ ) स्वसेयु च मे सुखं मेव च लहे ( यू ) ममते ( नो ) ( दु ) ख हेवं पापुनेवु ख ( मिस ) ति ने लाजा ए सकिये खमितवे ममं निमित्तं च धंम चले ( यू ) ति हिदलोग च पललोग च आलाधये ( यू ) ।

अर्थात्, "वे मुझसे भय न करें, वरंच विश्वास रक्खें। मैं उनको सुख दूँगा और किसी प्रकार का दुःख नहीं दूँगा। यदि उनसे कुछ अपराध भी हो जायगा तो मैं उनको यथाशक्ति क्षमा प्रदान करूँगा। मेरे निमित्त वे धर्मपूर्वक चलें जिससे उन्हें यह लोक और परलोक दोनों प्राप्त हो सकें।" अशोक कितना सहनशील पुरुष था, और उसने अपने कार्य तथा उत्तरदायित्व के क्षेत्र को कितना विस्तृत कर रक्खा था! छठे शिलालेख के अनुसार वह सर्वत्र मनुष्यों को सुख पहुँचाने में संलग्न रहता था, यथा "सर्वत्र च जनस अथे करोमि"। उसको अपने सुख-साधन की तनिक भी परवाह न थी; उसकी तो यही इच्छा थी कि उसके जीवन की हरघड़ी लोक-हित-संपादन में बीते। इस उद्देश्य से उसने यह आज्ञा निकाली—

( स ) वे काले भूं ( ज ) मानस में ओरोधनम्हि गभागारम्हि वचम्हि व विनीतम्हि च उपानेसु च सर्वत ( त ) पटिवेदका स्टिता अथे मे ( ज ) नस पटिवेदेथ इति।

अर्थात् "मैंने इस प्रकार का प्रबंध किया है कि सब समय, चाहे मैं खाता होऊँ, चाहे रनिवास में होऊँ, चाहे शयनागार में होऊँ, चाहे पशुशाला में, चाहे डाक से लंबी यात्रा में, और चाहे उद्यान में, सर्वत्र प्रतिवेदक प्रजासंबंधी कार्यों की मुझे निश्शंक सूचना दें"। इतना अधिक परिश्रम करने पर भी अशोक को कभी संतोष न होता था—"नास्ति हि मे तो ( सो ) उ ( स्टा ) नम्हि अथ-संतीरणाय व"। वह जो कुछ करता था, सब लोकहित के लिये ही—"कतव्व ( व्य ) मते हि मे स ( र्व ) लोक-हितं"। सचमुच उसकी कार्यतत्परता विचित्र थी, और उसका प्रजा-प्रेम अगाध था।

अशोक की ख्याति तथा महत्ता का एक कारण यह भी है कि उसने अपने राज्य की नीति का पथ बिलकुल बदल दिया। उसके पूर्व प्रायः सभी मगध के राजाओं ने अपनी विजय-पताका चतुर्दिक् फहराने का प्रयत्न किया था। किंतु उस भयंकर युद्ध की भीषणता एवं क्रूरता ने उसके हृदय पर भारी आघात पहुँचाया। तेरहवें शिलालेख में लिखा है कि कलिंग-विजय में

दिअढ़-म ( ले ) प्रणशत ( सह ) स्रो ( ये ) ततो अपवुढे शत-सहस्र गते तत्र हते बहु-तवत ( के ) ( व ) ( मुटे )

अर्थात् "डेढ़ लाख आदमी बंदी बनाए गए, लगभग एक लाख मारे गए, और उससे कई गुने आदमी युद्ध-संबंधी कठिनाइयों के कारण मरे"। लाखों मनुष्यों को हताहत देखकर और उनके मित्रों तथा बंधुवर्गों के करुण क्रंदन को सुनकर

अशोक दया-भाव से द्रवीभूत हो गया। उसने सोचा कि रक्तपात से साम्राज्यलिप्सा ही प्रज्वलित होती है, और इस प्रकार लोगों को संत्रस्त करना एक घोर पाप है। फलतः उसने "धम्मविजय" की ओर ध्यान दिया। चतुर्थ शिलालेख के अनुसार फिर "भेरीघोसो अहो धंमघोसो", अर्थात् "भेरीघोष" की जगह "धम्मघोष" सर्वत्र सुनाई पड़ने लगा। अशोक ने अपनी शक्ति सार्वजनिक कार्यों में लगाई, और "धम्म" की सरिता वेग से प्रवाहित हुई। उसकी प्रजा में एक नए जीवन का संचार हुआ, और चारों ओर अहिंसा, प्रेम और दया की दुंदुभि सुनाई पड़ी। इसका परिणाम यह अवश्य हुआ कि अशोक के समय में मगध-साम्राज्य के राजनीतिक विस्तार एवं विकास का सूर्य अस्त हो गया, किंतु उसके अथक परिश्रम और उत्साह से "धम्मविजय" की वैजयंती विदेशी यवन राज्यों में भी उड़ी, और भारतवर्ष ने एक उच्च आदर्श अपनाया। आज संसार में शांति-स्थापना की समस्या बहुत जटिल प्रतीत हो रही है, किंतु अशोक ने एक ही दृढ़ निश्चय से घातक अस्त्रों का नितांत बहिष्कार कर दिया और सीमांत जातियों और छोटे-छोटे राज्यों को भी विश्वास दिलाया कि वह उनको लेशमात्र हानि न पहुँचाएगा। अत्यंत शक्तिशाली होते हुए भी अशोक का यह शांतिमय संकल्प निस्संदेह उसकी महानता का एक ज्वलंत प्रमाण है।

# कबीर साहब और विभिन्न धार्मिक मत

[ श्री परशुराम चतुर्वेदी ]

कबीर साहब का आविर्भाव विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी में हुआ था। उस समय भारत में अनेक मत-मतांतर प्रचलित थे और विभिन्न संप्रदायों के जटिल विधानों तथा उनके अनुयायियों के परस्पर-विरोधी आचरणों की अंधाधुंध में वास्तविक धर्म का रहस्य जानना कठिन हो रहा था। फलतः, केवल बाहरी बातों में ही सदा व्यस्त रहने के कारण, एक दूसरे को मनुष्य होने के नाते भी भाई स्वीकार करना भूल जाता था। सभी अपनी-अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग-अलग पकाना चाहते थे और अपने सांप्रदायिक नियमों के सामने दूसरों की ओर दृष्टिपात तक नहीं करते थे। दंभ, पाखंड और अहंकार का प्रायः सर्वत्र बोलबाला था और धर्म वस्तुतः व्यक्तिगत आध्यात्मिक कल्याण का एक प्रमुख साधन होने के स्थान पर पथभ्रष्टता तथा सामाजिक विशृंखलता का एक बहुत बड़ा कारण बन गया था। कबीर साहब ने इस प्रकार की धार्मिक परिस्थिति को उस काल के व्यक्तिगत पतन एवं सामाजिक अधोगति का मूल सूचक माना और उसकी खरी आलोचना कर उसे उन्होंने सुधारने की भी चेष्टा की। उनकी रचनाओं के अंतर्गत ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जहाँ उन्होंने इस दुर्दशा की ओर संकेत किया है तथा जहाँ विभिन्न संप्रदायों के अनुयायियों के विचित्र आचरणों का वर्णन कर उन्हें उन्होंने अनुचित एवं निरर्थक भी ठहराने का प्रयत्न किया है। वे वहाँ उनके शब्द-चित्र प्रस्तुत करते हैं, उनपर अपनी टीका-टिप्पणी देते हैं तथा कभी-कभी वैसे व्यक्तियों के लिये कोई न कोई सुंदर आदर्श भी उपस्थित करने लग जाते हैं।

कबीर साहब के समय में प्रचलित मतों की संख्या केवल उत्तरी भारत में भी बहुत बड़ी रही होगी, क्योंकि उस समय तक प्रायः प्रत्येक धर्म के अंतर्गत अनेक छोटे-बड़े संप्रदाय बन गए थे, जो अपने को एक दूसरे से भिन्न समझा करते थे। कबीर साहब ने अपने एक पद में बतलाया है कि जहाँ-कहीं भी जाँच-पड़ताल करके देखिए, ऐसा कोई भी नहीं दिखाई पड़ता जो 'हरि' के वास्तविक रहस्य से परिचित

हो; 'छह दरसन' और 'छयानवे पाषंड' इसके लिये सदा व्यग्र जान पड़ते हैं, किंतु वे भी अज्ञान के गर्त में हैं। जैसे,

> आलम दुनी सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयाना।
> छह दरसन छयानबै पाषंड, आकुल किनहूँ न जाना॥[1]

यहाँ 'छह दरसन' से कबीर साहब का अभिप्राय उन षड्दर्शनों से नहीं जान पड़ता जो न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा अथवा वेदांत के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनका प्रमुख उद्देश्य दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन बतलाया जाता है। 'दरसन' शब्द का अर्थ यहाँ कदाचित् कोई 'भेष' वा संप्रदाय है जिसे प्रधानतः छः कहने की परंपरा कबीर साहब के पीछे तक चली आई है। उदाहरण के लिये संत दादूदयाल ( सं० १६०१-१६६० ) ने 'भेष कौ अंग' की अपनी एक साखी में इसका प्रयोग संभवतः इसी अर्थ में किया है और छः दरसनों के नाम भी दिए हैं। वे कहते हैं—

> जोगी जंगम सेवड़े, बौध सन्यासी सेष।
> षट् दर्सन दादू राम बिन, सबै कपट के भेष॥ ३२॥[2]

जिसे प्रसिद्ध कबीरपंथी रामरहसदास ( सं० १७८२-१८६६ ) ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी बतलाया है —

> योगी, जंगम, शेवडा, सन्यासी दरवेश।
> छठवां कहिये ब्राह्मणहि, छौ घर छौ उपदेश॥[3]

इसके सिवा स्वयं कबीर साहब भी 'षट् दरसन' का तात्पर्य अन्यत्र यही समझते जान पड़ते हैं[4] और उक्त 'छह दरसन' की ही भाँति 'छयानबे पाषंड' का भी विवरण इस प्रकार दे दिया जाता है—

> दश संन्यासी बारह योगी, चौदह शेख बखान।
> अठार ब्राह्मण अठारह जंगम, चुविश शेवड़ा जान॥[5]

---

१—'कबीर-ग्रंथावली' ( का० ना० प्र० सभा ), पद ३४, पृ० ९९

२—'श्री दादूयाल जी की वाणी' ( जयपुर ), पृ० २८७

३—'बीजक' (शिशुबोधिनी टीका, बांकीपुर, द्वितीय प्रकरण), पृ० १९ पर उद्धृत।

४—'कबीर-ग्रंथावली', साखी ११ पृ० ५४ और रमैणी पृ० २४०

५—'बीजक' पृ० १९ पर उद्धृत।

जिसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि उक्त छहों दर्शनों अथवा संप्रदायों के अंतर्गत अनेक उपसंप्रदाय भी प्रचलित रहे होंगे।

परंतु उपर्युक्त 'जोगी,' 'जंगम' आदि शब्द किन्हीं स्वतंत्र प्रमुख धर्मों के सूचक न होकर उनकी ओर केवल निर्देशमात्र करनेवाले भी समझे जा सकते हैं। जैसे, 'जोगी' से नाथपंथ, 'जंगम' से शैव संप्रदाय, 'सेवड़ा' से जैन धर्म, 'सन्यासी' से बौद्ध धर्म, 'दरवेश' से इस्लाम एवं 'ब्राह्मण' से हिंदू धर्म की ओर इंगित किया गया भी माना जा सकता है और यह बात स्वयं कबीर साहब की रचनाओं द्वारा भी सिद्ध की जा सकती है। संत दादूदयाल वाली उपर्युक्त साखी के 'बोध' शब्द का पाठांतर अन्यत्र 'बुध' भी मिलता है[६] जो, 'पंडित' का वाचक होने के कारण, ब्राह्मण-धर्म को सूचित कर सकता है। इस प्रकार कबीर साहब के 'छथानवै पाषंड' का भी तात्पर्य इन धर्मों के छोटे-छोटे संप्रदायों वा उपसंप्रदायों से ही रहा होगा। यों तो उनके ऐसे संख्यावाचक शब्दों के प्रयोगों द्वारा हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि ऐसा उन्होंने प्रचलित संप्रदायों की केवल 'अनेकता' अथवा 'विविधता' सूचित करने के लिये भी किया होगा और उनका अभिप्राय उनकी किसी निश्चित संख्या का प्रदर्शन मात्र न होगा। फिर भी इतिहास से पता चलता है कि कबीर साहब के समय में उत्तरी भारत में हिंदू धर्म के वैष्णव संप्रदाय, शैव संप्रदाय, शाक्त संप्रदाय, स्मार्त धर्म, नाथपंथ आदि प्रधान रूप में प्रचलित थे और इसी प्रकार जैन-धर्म एवं इस्लाम का भी प्रचार था और इनमें से प्रायः प्रत्येक में अनेक वर्ग वा फ़िरके बन गए थे। इन सभी के अनुयायियों के आचरण, वेशभूषा, साधना अथवा पूजा-पद्धतियों में अंतर प्रतीत होता था और ये अपने को भिन्न-भिन्न भी समझते थे।

कबीर साहब ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत एकाध स्थलों पर हिंदू धर्म एवं इस्लाम की कुछ बातों में अंतर दिखलाया है और कहा है कि वे न तो मौलिक हैं और न किन्हीं व्यापक सिद्धांतों पर ही आश्रित हैं, किंतु उन्हीं बाह्य भेदों के कारण दोनों अनुयायियों में वैमनस्य दिखाई पड़ता है। यदि हिंदू धर्म के अनुयायी देवों तथा द्विजों की पूजा करते हैं, पूर्व दिशा को महत्त्व देते हैं, गंगा-स्नान करते हैं और एकादशी का व्रत रखते हैं तो इस्लाम धर्म वाले इसके विपरीत काजी, मुल्ला,

---

६—'श्री स्वामी दादूदयाल की वाणी' (अजमेर संस्करण), साखी ४७, पृ० २३९

पीर और पैगंबर को मानते हैं, रोजा रखते हैं और पश्चिम की ओर मुँह करके नमाज पढ़ा करते हैं। इसी प्रकार यदि हिंदुओं की उपासना के लिये कोई मंदिर पवित्र स्थान माना जाता है तो मुस्लिम अपनी मस्जिदों में जाकर उपासना करते हैं।[७] इन दोनों में से कदाचित् किसी को भी पता नहीं कि यदि अल्लाह मस्जिद में ही निवास करता है और भगवान् का स्थान मंदिर मात्र है तो अन्य स्थल किसके हैं? इसी प्रकार ब्राह्मण चौबीस एकादशी का व्रत रखते हैं और काजी रमजान के[८] पूरे एक मास तक रोजा रहते हैं, किंतु ये दोनों शेष ग्यारह महीनों को क्यों बचा देते हैं? इसके सिवा दोनों क्रमशः वेद एवं कोरान को पृथक्-पृथक् अपना धर्मग्रंथ मानकर उनपर आस्था रखते हैं और यज्ञोपवीत एवं सुन्नत के कृत्रिम संस्कार भी करते हैं।[९] इन दोनों प्रकार के धर्मावलंबियों में व्यर्थ का भेद है और दोनों का, केवल ऐसी ही बातों के आधार पर, एक दूसरे के प्रति, घृणा प्रदर्शित करना निरी मूर्खता है। अतएव कबीर साहब ने इन दोनों धर्मों की प्रचलित मान्यताओं तथा पूजा-पद्धतियों की आलोचना पृथक्-पृथक् भी की है और उन्हें चेतावनी दी है।

कबीर साहब के समय में हिंदू धर्म के अंतर्गत अनेक प्रकार की साधनाएँ दिखाई पड़ती थीं जिन्हें प्रयोग में लानेवाले अपनी-अपनी धुन में ही मस्त जान पड़ते थे और जिनमें से किसी एक के लिये दूसरे की ओर सद्भाव प्रदर्शित करना कदाचित् आवश्यक भी नहीं समझा जाता था। कबीर साहब ने इनमें से कई-एक का परिचय दिया है और उनके विचित्र आचरणों तथा उपासनाओं का उल्लेख किया है। वे कहते हैं—

> इक जंगम इक जटाधार, इक अंग विभूति करै अधार ॥
> इक मुनियर इक मन हूँ लीन, ऐसैं होत होत जग जात खीन ॥
> इक आराधै सकति सीव, इक पड़दा दे दे बधे जीव ॥
> इक कुल देव्यां कौ जपहि जाप, त्रिभवनपति भूले त्रिविध ताप ॥
> अंनहि छाड़ि इक पीवहि दूध, इत्यादि।[१०]

---

७—'कबीर-ग्रंथावली,' पद ५८, पृ० १०६

८—'गुरु ग्रंथ साहिब जी' (भाई गुरदिआल सिंघ, अमृतसर), रागु प्रभाती पद २, पृ० १३४८

९—'कबीर ग्रंथावली', अष्टपदी रमैणी पृ० २३८-९

१०—वही, पद ३८०, पृ० २१४

इक पढ़हि पाठ इक भ्रमैं उदास, इक नगन निरंतर रहैं निवास ॥
इक जोग जुगति तन हूंहिं खीन, ऐसैं राम नाम संगि रहैं न लीन ॥
इक हूंहिं दीन इक देहि दांन, इक करैं कलापी सुरा पान ॥
इक तंत मंत ओषद वान, इक सकल सिध राखैं अपान ॥
इक तीर्थ व्रत करि काया जीति, ऐसैं रामनाम सूं करैं न प्रीति ॥
इक धोम घोटि तन हूंहि स्याम, यूं मुकति नहीं बिन रांम नाम ॥ [११]

पंडित जन माते पढ़ि पुरान, जोगी माते धरि धियान ॥
संन्यासी माते अहंमेव, तपा जु माते तप कै भेव ॥
सब मद माते कोऊ न जाग, संग हीं चोर घर मुसन लाग ॥[१२]

सारांश यह कि कबीर साहब के जीवन-काल में प्रत्येक हिंदू साधक, चाहे उसका संबंध शैव संप्रदाय से रहा हो अथवा शाक्त संप्रदाय से, चाहे वह आचारी रहा हो अथवा उदासी, जैन हो या नाथपंथी अथवा तांत्रिक, वह सदा मतवाले की भाँति अपने-आपमें मग्न रहा करता था और उसे यह भी पता न था कि मेरे घर में चोर लगा हुआ है। कबीर साहब ने ऐसे लोगों को निद्रितावस्था में पड़ा-सा माना है और उन्हें जगाने तथा सचेत करने का प्रयत्न किया है )

कबीर साहब ने हिंदू धर्म संबंधी पौराणिक सिद्धांतों के आधारभूत ग्रंथ वेद-चतुष्टय तथा स्मृति आदि की भी चर्चा की है और उन्हें भ्रमात्मक ठहराया है। वे कहते हैं कि चारों वेदों के मतों का निर्णय करते-करते संसार धोखे में पड़ जाता है और श्रुति-स्मृति पर की गई आस्था उन्हें बंधन में डाल देती है।[१३] स्मृति तो वेद की पुत्री ही है और वह सभी को बाँधने के लिये साँकल एवं रस्सी लिए पहुँच जाती है।[१४] ये धर्मग्रंथ सच्चे मार्गप्रदर्शक नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार धर्म-शास्त्रों के आधार पर प्रस्तुत की गई वर्ण-व्यवस्था भी उनके अनुसार स्वाभाविक नहीं। उनका कहना है कि यदि सृष्टिकर्ता को वर्ण-व्यवस्था स्वीकृत थी तो उसने ब्राह्मणों की पहिचान के लिये उनके ललाट पर कोई तिलक का चिह्न क्यों

---

११—'वही', पद ३८६, पृ० २१६

१२—'गुरु ग्रंथ साहिब', रागु बसंतु पद २, पृ० ११९३

१३—'कबीर-ग्रंथावली,' पद ४७, पृ० १०३

१४—'गुरु ग्रंथ साहिब' रागु गउड़ी पद ३०, पृ० ३२९

न बना दिया ? उनके जन्म का भी कोई दूसरा उपाय क्यों न किया, जिससे वे शूद्रादि से स्वभावतः भिन्न समझ लिए जाते।[१५] कबीर साहब ने इस संबंध में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की तत्कालीन दुरवस्था की ओर भी विशेष ध्यान दिलाया है और कहा है कि ब्राह्मण लोग जहाँ वेदादि के केवल अध्ययन मात्र में भूले रहते अथवा संध्या, तर्पण, षट्कर्म आदि के झमेले में पड़े रहते हैं और उनके वास्तविक रहस्यों को नहीं जान पाते, वहाँ क्षत्रिय भी क्षत्रियोचित कर्मों की उपेक्षा करते हुए जीवों की निरर्थक हत्या किया करते हैं और जीव-रक्षा का नाम भी लिया करते हैं।[१६] इसके सिवा कबीर साहब उन शास्त्रविहित नियमों की भी आलोचना करते हैं जिनके अनुसार अस्पृश्यता तथा अपवित्रता के भाव जाग्रत् होते हैं। उनका कहना है कि यदि जल में छूत है, स्थल में छूत है, जन्म में छूत है, मरण में छूत है तो फिर पवित्रता कहाँ रह जाती है ? कुछ लोग अस्पृश्य समझ लिए जाते हैं और उनकी दृष्टि में, वाणी में और कानों तक में छूत की कल्पना कर ली जाती है; उनके साथ उठना-बैठना छूत माना जाता है और उनके कारण भोजन तक में छूत पहुँच जाती है, जिस कारण कर्म-बंधन में पड़ने के अनेक ढंग तैयार हो जाते हैं।[१७] इस प्रकार विचार करने पर तो हम प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक व्यापार पर ही अपवित्रता का व्यर्थ आरोप कर सकते हैं।[१८]

कबीर साहब ने हिंदुओं के अवतारवाद संबंधी मत को भी निराधार बतलाया है और उनकी मूर्ति-पूजा की व्यर्थता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। कृष्णावतार के संबंध में वे कहते हैं कि यदि कृष्ण को नंद-नंदन कहा जाता है तो फिर नंद को भी तो किसी का नंदन ( पुत्र ) होना चाहिए ? ये नंद सृष्टि के आदि में कहाँ थे ? और यदि ये उस समय वर्तमान नहीं थे तो ये सृष्टिकर्ता परमात्मा के पिता कैसे कहे जा सकते हैं ? वे नंद तो चौरासी योनियों में भ्रमण करनेवाले जीव हैं।[१९] वास्तव में परमात्मा ने न तो दशरथ के घर जन्म लिया और न उसने लंका के राजा की दुर्गति की। इसी प्रकार उसके अन्य अवतारों की कथाएँ भी

---

१५—'कबीर-ग्रंथावली,' पद ४१, पृ० १०१-२

१६—'वही', अष्टपदी रमैणी, पृ० २३९

१७—'गुरु ग्रंथ साहिब,' रागु गउड़ी, पद ४१, पृ० ३३१

१८—'क० ग्रं०,' पद २५१, पृ० २७३

१९—वही, पद ४८, पृ० १०३

अविश्वसनीय हैं।[20] वस्तुतः वह तो निरंजन है जिसकी मूर्ति का होना भी तर्क-संगत नहीं। फिर भी हिंदू लोग मंदिरों में जाकर उसके सामने अपना सिर पटकते हैं, उसे भोग लगाते हैं तथा द्वार पर खड़े होकर उसे पुकारते हैं।[21] मूर्त्ति-पूजा के उद्देश्य से पत्रादि तोड़े जाते हैं और यह विचार नहीं किया जाता कि जहाँ उन पत्तियों में जीवन है वहाँ उस निर्जीव पत्थर की मूर्ति को गढ़ते समय कभी उसके ऊपर पैर रखे गए होंगे तथा वह पूजन की किसी भी सामग्री को अपने उपभोग में नहीं ला सकती।[22]

कबीर साहब ने इसी प्रकार हिंदुओं के, उपवास करने के उद्देश्य से अन्न छोड़ने को 'पाखंड' की संज्ञा दी है[23] और उनके माला फेरने अथवा अंगुलियों के भी सहारे जप करने को निरर्थक बतलाकर अपने मन की ओर अधिक ध्यान देने का परामर्श दिया है।[24] ये उनके पवित्र माने जानेवाले प्रसिद्ध तीर्थों को भी महत्त्व देते और यहाँ तक कहते हैं कि वास्तविक तीर्थस्थल तो हमारे घट के ही भीतर हैं। भगवान् हमारे हृदय में सदा निवास करता है, और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हमारा अपना मन ही मथुरा है तथा हमारी काया भी काशी से कम नहीं है।[25] उनका कहना है कि यदि उक्त प्रकार से तीर्थस्थानों में स्नान करना वस्तुतः महत्त्व रखता है तो वहाँ के जल में सदा निवास करनेवाले मेढक आदि भी मुक्त हो सकते हैं।[26] सच तो यह है कि किसी कड़ुई लौकी को यदि 'अठसठि तीर्थों' के जल में डाला जाय तो भी उसका कड़ुवापन नहीं जायगा।[27] कबीर साहब हिंदू लोगों के मृतकों की दाह-क्रिया तथा उनके निमित्त किए जानेवाले श्राद्ध-कर्म को भी निरर्थक एवं केवल ढोंग मात्र बतलाते हैं। वे कहते हैं कि 'दाहकर्म' द्वारा मृतक के शरीर को जला देते हैं और जिस पिता के प्रति उसके जीते-जी कभी श्रद्धा प्रदर्शित न की होगी उसकी श्राद्धक्रिया करते हैं। श्राद्ध द्वारा भी मृतक बेचारे को निर्जीव हो जाने के कारण कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता और इधर उसके लिये दिए गए पिंडदान को कौए और कुत्ते खा जाते हैं। जिस पिता को जीते-जी डंडे से मारते

२०—वही, बारहपद रमैणी, पृ० २४२ २१—वही, पद १३५, पृ० १३१

२२—वही, पद १९८, पृ० १५५। २३—गुरु ग्रंथ साहिब, रागु गौंड, पद ११

२४—कबीर ग्रंथावली, सा० १-१०, पृ० ४५-६. २५—वही, सा० १०-११, पृ० ४४

२६—'गुरु ग्रंथ साहिब', रागु आसा, पद ३७, पृ० ४८४

२७—वही, रागु सोरठि, पद ८, पृ० ६५५

रहे और जिसे खाने को अन्न नहीं देते थे, प्रत्युत गाली तक सुना देते थे, उसे मर जाने पर गंगालाभ कराने अथवा पिंड देने से क्या लाभ ?'[२८]

कबीर साहब हिंदुओं के वैष्णव संप्रदाय को कदाचित् कुछ विशेष आदर की दृष्टि से देखते थे और उसकी प्रशंसा भी खुले शब्दों में किया करते थे। परंतु फिर भी उनमें प्रचलित बुराइयों अथवा उनकी त्रुटियों की आलोचना करने से वे नहीं चूकते थे। वे उनके 'भेष-धारण' की व्यर्थता बतलाते हुए कहते थे कि सच्चा वैष्णव केवल छापा एवं तिलक से नहीं बन सकता। उसे अपने आचरण से वैष्णव होना चाहिए। वैष्णव को विवेक से काम लेना चाहिए, प्रपंच में नहीं पड़ना चाहिए और अहंकार का परित्याग करके भगवद्भक्ति करनी चाहिए।[३०] वैष्णवजन साधारणतः केवल भक्तिपरक पदों के भजन गाते फिरते हैं और अंधों की भाँति सिर ऊपर किए हुए कीर्तन करते हैं, जो सब दिखावा मात्र है।[३१] इन वैष्णवों की वैकुंठ-विषयक कल्पना भी निराधार है।[३२] इसी प्रकार वे हिंदुओं के शैव एवं शाक्त संप्रदायों की भी आलोचना करते हैं और उनके बाह्याडंबरों और विडंबनाओं को हेय ठहराते हैं। शैवों के भस्म धारण करने तथा जटा बढ़ाने आदि की चर्चा उन्होंने की है।[३३] किंतु शाक्तों के प्रति तो उन्होंने विशेष रूप से घृणा प्रदर्शित की है और लोगों को परामर्श दिया है कि वे उनसे किसी प्रकार का भी संपर्क न रखें। उनकी दृष्टि में,

साषित सुनहा दोऊ भाई। वो नींदै वौ भौंकत जाई॥[३४]
सापत ते सूकर भला, सूना राखे गाँव।[३५]

और इन्हीं जैसे कारणों से वे वैष्णवों और शाक्तों में महान् अंतर का अनुभव करते हैं। वे कहते हैं—

वैस्नौं की छपरी भली, ना सापत का बड़ गांउ॥[३६]
सापत बांभण मति मिलै, बैसनौं मिलै चँडाल॥[३७]

---

२८—वही, रागु गौडी, पद ४५, पृ० ३३२ तथा क० ग्रं०, पद ३५६, पृ० २०७
२९—वही, साखी १, ७, ९ पृ० ५२-३ ३०—वही, सा० १६ पृ० ४६
३१—वही, सा० ४०५, पृ० ३८ ३२—वही, पद २४, पृ० ९६
३३—वही, पद २७९ पृ० १८३, पद ३००, पृ० १९०; रमैणी रागसूहौ, पृ० २२३
३४—'कबीर ग्रंथावली' पद २२१, पृ० १६३
३५—वही, सा० १५ (टि०), पृ० ३६
३६—वही, सा० १, पृ० ५२ ३७—वही, सा० ९, पृ० ५३

इन शाक्तों के प्रति इतनी दुर्भावना प्रदर्शित करने का कारण उन्हें उनका हिंसात्मक आचरण जान पड़ता है, क्योंकि वे अन्यत्र इस प्रकार भी कहते हैं—

पापी पूजा बैसि करि, भषैं मांस मद दोइ।[३८]

सकल बरण इकत्र है, सकति पूजि मिलि खांहि।[३९]

कबीर साहब ने इसीलिये स्पष्ट शब्दों में कहा है—

कबीर साषत की सभा, तूँ मत बैठे जाइ।
एकै बाडै क्यूँ बडै, रोझ गदहड़ा गाई॥[४०]
साषत संगु न कीजियै, दूरहि जइये भागि।
बासन कारो परसियै, तउ कछु लागै दागु॥[४१]

वे हिंदुओं के कतिपय अन्य वर्गों के प्रति भी इसी प्रकार कुछ न कुछ कहते हैं। उदाहरणतः अतीतों को 'भेष' की आड़ में अपराध करनेवाले और वैरागियों को भी अपने कर्तव्य-पालन से चूकनेवाले ठहराते हैं।[४२]

कबीर साहब ने जितने विस्तार के साथ हिंदुओं के संप्रदायों और उपसंप्रदायों की चर्चा की है उतने विस्तार से इस्लाम धर्म की नहीं। इस धर्म के अनुयायियों को उन्होंने अधिकतर 'तुर्क' नाम से अभिहित किया है और काजी, मुल्ला, शेख, दरवेश, आदि नामों द्वारा भी सूचित किया है। शेख को वे संतोष न रहते हुए भी हज की यात्रा करनेवाला बतलाते हैं और काजी को झूठी बंदगी और पाँच बार नमाज पढ़ कर सत्य को छिपानेवाला तथा मस्जिद पर चढ़कर एकेश्वरवाद का समर्थन करनेवाला, किंतु साथ ही अपनी जिह्वा के स्वाद के लिये छुरी लेकर गोहत्या करनेवाला भी ठहराते हैं। इसी प्रकार वे मुल्ला अथवा मौलवी को भी व्यर्थ का रोजा रखनेवाला और मीनार पर चढ़कर 'अजां' देनेवाला कहते हैं और बतलाते हैं कि ये दोनों ही भ्रम में पड़कर संसार के साथ चला करते हैं और अपने हाथों में छुरी लेते ही 'दीन' वा धर्म के वास्तविक उद्देश्य को विस्मृत कर देते हैं। इन लोगों की समझ में नहीं आता कि जिस माता का दूध हम दौड़कर पिया करते हैं उसका वध क्यों करना चाहिए। ये दूध भी पीते हैं और उसका मांस भी खाते हैं, किंतु फिर भी इन्हें अपने 'दीन' के

---

३८—वही, सा० १३, पृ० ४३ ३९—वही, सा० १४ पृ० ४३

४०—वही, सा० ६५ (टि०), पृ० २६

४१—'गुरु ग्रंथ साहिब', सलोकु १३१, पृ० १३७१

४२—'कबीर-ग्रंथावली', सा० १ पृ० ४९; सा० ६ पृ० ५७

अच्छे अनुयायी होने का सदा गर्व रहा करता है। ये 'अक़ल' नहीं रखते और भूलते-भटकते रहते हैं।[४३]

बौद्ध धर्म के अनुयायियों का कबीर साहब ने, कदाचित्, केवल एक बार नाम लिया है और उन्हें भी शाक्तों, जैनों और चार्वाकों के साथ ही पाखंडी कहा है।[४४] परंतु प्रसिद्ध चौरासी बौद्ध सिद्धों को वे संशय में पड़ा हुआ बतलाते हैं[४५] और उन्हें अन्यत्र माया में रत रहनेवाला भी कहते हैं।[४६] कबीर साहब की गुरु गोरखनाथ के प्रति बहुत बड़ी श्रद्धा जान पड़ती है, किंतु उनके अनुयायी योगियों को वे व्यर्थ के भ्रम में पड़कर 'डंडा, मुंद्रा, खिंथा' और 'आधारी' के भेष में रहने-वाला तथा आसन मारने और प्राणायाम करनेवाला कहते हैं।[४७] उनका कहना है कि ये लोग मुंड मुड़ाकर और अपने कानों में 'मंजूसा' पहनकर तथा शरीर में विभूति लपेट कर 'फूले हुए' बैठे रहते हैं और भीतर ही भीतर इनकी हानि होती रहती है। ये लोग रात-दिन कायाशोधन में ही लगे रहते हैं और ध्यान में मग्न रहकर अपनी मस्ती प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार के साधक चाहे अपने शरीर को योगी भले ही बना लें, पर मन को योगी नहीं बना सकते, जो वास्तव में बिरले लोगों द्वारा ही संभव है।[४८] जैन धर्म के अनुयायियों का भी उल्लेख, कबीर साहब ने कई स्थलों पर किया है और श्रावकों, लुंचितों आदि के कार्यों की आलोचना की है। श्रावकों के विषय में कहते हैं कि वे अपने तीर्थंकरों की पूजा के लिये पत्र-पुष्प एकत्र करते हैं जिनमें अनेक जीवों को कष्ट पहुँचता है। इस हिंसात्मक कर्म के अतिरिक्त जैन धर्म के साधक वज्रोली मुद्रादि भी किया करते हैं जो पाखंड के सिवा कुछ नहीं है, और दिगंबरों का भेष भी इसी प्रकार का है।[४९]

कबीर साहब का व्यक्तिगत अनुभव कदाचित् उनके लड़कपन से ही ऐसे ढंग का हो गया था जिसके कारण उनका झुकाव निरंतर विचार-स्वातंत्र्य

४३—वही, सा० ११ पृ० ४३; सा० ५-७ पृ० ४२; अष्टपदी रमैणी, पृ० २३९

४४—वही, अष्टपदी रमैणी, पृ० २४० ४५—वही, सा० ११ पृ० ५४

४६—'गुरु ग्रंथ साहिब', राग भैरउ १३, पृ० ११६१

४७—वही, रागु बिलावलु ८, पृ० ८५६

४८—क० ग्रं०, पद १३४ पृ० १३१; पद १९२ पृ० १५३; पद ३८७ पृ० २१६; सा० १७ पृ० ४६

४९—क० ग्रं०, अष्टपदी रमैणी, पृ० २४०; पद १३२ पृ० १३१

की ही ओर होता गया था और वे स्वभावतः किसी भी प्रकार के बंधन का विरोध करने लगे थे। वे 'लोकबेद कुल की मरजादा' को 'गले में पासी'[५०] अथवा फाँसी समझते और तदनुसार प्रत्येक धर्म के बाह्याडंबरों का खुले शब्दों में घोर विरोध करते थे। परंतु धर्म की शाखा-प्रशाखाओं के रूप में दीख पड़नेवाले विविध संप्रदायों एवं उपसंप्रदायों के अनुयायियों के बाह्याचरणों पर आक्षेप करते हुए तथा उनकी विहित पद्धतियों को अनावश्यक ठहराते हुए भी, वे उसके मूल की रक्षा के लिये सदैव प्रयत्नशील रहे। उन्होंने धर्मतत्त्व के मूल की ओर सबका ध्यान आकृष्ट करना चाहा तथा उसके आदर्शानुसार आचरण करने का भी सबको उपदेश दिया। वे धार्मिक आदर्शों का अनुसरण करने के पहले विवेक से काम लेने का भी अनुरोध करते थे और इस दृष्टि से वे 'बेद कतेब' को भी झूठा नहीं मानते थे, प्रत्युत यहाँ तक कह डालते थे कि जो व्यक्ति इन धर्मग्रंथों को बिना उनपर विचार किए हुए ही 'झूठा' कह देता है वह स्वयं 'झूठा' है।[५१] इसके सिवा कबीर साहब सदा कटु शब्दों का ही व्यवहार करना नहीं जानते थे, और न वे केवल व्यंगमयी भाषा का ही प्रयोग करते थे। ब्राह्मणों, काजियों, जैनों तथा योगियों को उन्होंने कहीं-कहीं बड़े सरल एवं सुंदर शब्दों में चेतावनी दी है और उनसे वास्तविक मार्ग पर चलने का अनुरोध किया है।[५२]

कबीर साहब की रचनाओं का अध्ययन करने पर यह भी पता चल सकता है कि वे विभिन्न धर्मों अथवा मतों से पूर्णतः प्रभावित भी थे। उनकी आस्था कर्मवाद एवं जन्मांतर में स्पष्ट दीख पड़ती है[५३] और वे कभी-कभी भाग्यवादी जैसी भी बातें कर जाते हैं।[५४] वे सृष्टि-रचना में विश्वास करते प्रतीत होते हैं और ऐसा कथन करते हैं जिससे सूचित होता है कि अपने को वे उस सृष्टिकर्ता की ही इच्छा पर

---

५०—वही, पद १२९, पृ० १२९

५१—'गुरु ग्रंथ साहिब', रागु प्रभाती, पद ४ पृ० १३४९

५२—वही, रागु रामकली पद ५, पृ० ९७०; रागुआसा, पद २९ पृ० ४८३; क० ग्रं० राग सूहौ ( रमैणी ) पृ० २२३ तथा पद ३१७ पृ० १६५

५३—क० ग्रं०, सा० २२ पृ० ३४, सा० २२ पृ० ४१, सा० १-४ पृ० ४२ तथा पद १०८, २५०, १०३

५४—वही, पद १२१ पृ० १२६

नितांत निर्भर रखना भी चाहते हैं।[५५] वे किसी ऐसे विराट् पुरुष की भी कल्पना करते हैं जिसकी सेवा में सदा चंद्र, सूर्य, वायु, ब्रह्मा, शिव, दुर्गा, वासुकि आदि निरत हैं[५६] और अन्यत्र वे उसे ही एक विष्णु के रूप में मानकर उसकी नाभि से उत्पन्न कमल की नाल के सहारे उसके ब्रह्मा द्वारा खोजे जाने की कथा का भी उल्लेख करते हैं।[५७] वे 'रामायण' एवं 'महाभारत' की कई कथाओं से भी परिचित जान पड़ते हैं और विदुर एवं प्रह्लाद जैसे भक्तों के प्रति भगवान् की कृपा की चर्चा करते हैं।[५८] इसके सिवा उन्होंने सनक-सनंदन, ध्रुव, हनुमान, विभीषण, शेषनाग, नारद एवं शुकदेव जैसे पौराणिक भक्तों के भी नाम लिए हैं।[५९] वैष्णवों को तो वे स्वयं अपने 'राम' की ही भाँति अपना 'संगी' बतलाते हैं[६०] और उन हरिजनों की पनिहारिन तक को छत्रपतियों की रानियों से बढ़कर समझते हैं।[६१] वे अपने को 'नारदी भक्ति' में 'मगन' रहनेवाला भी बतलाते हैं[६२] तथा 'नरहरि' 'कृसन कृपाल' के प्रति अपनी पूर्ण आस्था प्रकट करते हैं।[६३] वास्तव में हमें कबीर साहब के सहज धर्म वा साधारण धर्म के अंतर्गत उपर्युक्त जन्मांतर और कर्मवाद तथा भक्तिवाद के अतिरिक्त, नाथ-पंथियों के योगवाद, जैनियों के अहिंसावाद, सहजयानियों के सहजवाद वा मुसलमानों के एकेश्वरवाद तथा सूफियों के रहस्यवाद आदि अनेक मतों के प्रभाव स्पष्ट रूप में लक्षित होते हैं, जिनके आधार पर उन्हें कभी-कभी एक निरा समन्यवादी कहने की प्रवृत्ति होती है। फिर भी उनके लिये केवल इतना ही कह देना उचित और न्याय-संगत नहीं जान पड़ता। कबीर साहब की रचनाओं से प्रकट होता है कि इस विषय में उन्होंने सत्य के वास्तविक रूप को समझने और समझाने की चेष्टा की थी और उन्हें विश्वास था कि इसके द्वारा वे सारे धार्मिक मतभेदों को सरलता से दूर कर सकेंगे।

---

५५—कबीर ग्रंथावली, बड़ी अष्टपदी पृ० २२८-९, अष्टपदी पृ० २४० तथा पद ३४

५६—वही, पद ३४०

५७—वही, पद ३४० और पद ३५

५८—'गुरु ग्रंथ साहिब', रागु मारू पद १, पृ० ११०३

५९—वही, बसंतु, पद ४ पृ० ११९४

६०—वही, सा० ५ पृ० ५३

६१—क० ग्रं०, सा० ४ पृ० ४९

६२—वही, पद २७८ पृ० १८२-३

६३—वही, सा० १ पृ० ५७

# राधिका और रायण का रहस्य

[ श्री चंद्रबली पांडेय ]

राधिका और रायण के संबंध में हम इस लेख में जो कुछ कहने जा रहे हैं उसकी मीमांसा में पड़ने से क्या लाभ होगा, यह बताना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। यह अवश्य है कि कृष्ण-साहित्य तथा कृष्ण-भक्ति के अंतर्गत राधा का प्रवेश कब और किस प्रकार हुआ, यह अब तक एक गूढ़ प्रश्न बना हुआ है। हमारा उद्देश्य यहाँ इतना दिखा देना भर है कि राधिका और रायण का रहस्य क्या है। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण का कथन है, श्री जयदेव की भाषा में, किसी राधिका से—

किसलयशयनतले कुरु कामिनि चरण-नलिन-विनिवेशम्।
तव पद-पल्लव-वैरिपराभवमिदमनुभवतु सुवेशम्॥
क्षणमधुना नारायणमनुगतमनुसर मां राधिके॥ ध्रुवम्॥

× × ×

श्री जयदेव-भणितमिदमनुपद-निगदित-मधुरिपु-मोदम्।
जनयतु रसिकजनेषु मनोरमरतिरसभावविनोदम्॥ क्षण०॥

एवं राधिका का किसी यदुनंदन से—

कुरु यदुनंदन चंदनशिशिरतरेण करेण पयोधरे।
मृगमदपत्रकमत्र मनोभव-मंगल-कलश-सहोदरे॥
निजगाद सा यदुनंदने क्रीडति हृदयानंदने॥ ध्रुवम्॥

× × ×

श्रीजयदेववचसि रुचिरे हृदयं सदयं कुरु मण्डने।
हरिचरणस्मरणामृतनिर्मित-कलिकलुषज्वर-खण्डने॥निज०॥

श्री जयदेव ने गीतगोविंद की इन दो अष्टपदियों ( २३, २४ ) में राधिका और यदुनंदन का जो रहस्य दिखाया है उसका विचार अन्यत्र हुआ है, अतः यहाँ राधिका के ही रहस्य पर विचार किया जायगा। किंतु राधिका के विषय में और कुछ कहने के पहले देखना चाहिए कि इस क्षेत्र में

**कविकुलगुरु कालिदास की स्थिति क्या है। उनका यक्ष अपने मित्र मेघ को मार्ग-निर्देश करने के प्रसंग में 'गोपवेष विष्णु' का नाम लेता है—**

बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः। (मेघदूत, १५)

**क्या इस गोपवेष विष्णु की गोप-लीला से कवि का परिचय नहीं? रघुवंश में पुंवत्प्रगल्भा सुनंदा पतिंवरा इंदुमती से शूरसेनाधिपति के विषय में कहते हुए जो 'वारिविहार के समय स्तनचंदन के प्रक्षालन से कलिंदजा के जल के मथुरा तक गंगोर्मिसंसक्त-जलवत् बने रहने का तथा चैत्ररथ की बराबरी करनेवाले वृंदावन में 'मृदुप्रवालोत्तर पुष्पशय्या' आदि का वर्णन करती है उसमें यद्यपि राधा वा कृष्ण की व्रजलीला का उल्लेख नहीं है तथापि उससे प्रतीत होता है कि कालिदास के मन में कृष्णलीला वाले वृंदावन का ही चित्र उपस्थित था—**

यस्यावरोधस्तनचन्दाना प्रक्षालनाद् वारिविहारकाले।
कलिंद-कन्या मथुरां गतापि गंगोर्मिसंसक्त-जलेव भाति॥ ४८॥
संभाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने विविश्यतां सुंदरि यौवनश्रीः॥ ५०॥
अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कांतासु गोवर्धनकन्दरासु॥ ५१॥

**ध्यान देने की बात है कि कविकुलगुरु का, कृष्णलीला से परिचित रहते हुए भी, प्रेम-वर्णन के लिये राधा-माधव की 'रहःकेलि' को अपने काव्य का विषय न चुनना सकारण था। उनका प्रेम पूर्णतः विधि-विधान के भीतर है, विधि-विहीन प्रेम का उनकी दृष्टि में कोई स्थान नहीं था। प्रेम की व्याख्या के लिये उन्होंने देव-कोटि में से चुना शिव-पार्वती के प्रणय को और मानव-कोटि में से अज-इंदुमती के जीवन को। शिव-पार्वती के प्रणय-वर्णन में पार्वती का रूप पूर्णतः विधि-गृहीता पतिव्रता का है।[1] इसी से तो पुराणों का यह सिद्धांत ठहरा कि**

पतिव्रतानां दुर्गा च सुभगानां च राधिका (ब्रह्मवैवर्त, २।२७।१३७)

**यहाँ ब्रह्मवैवर्त की इस वाणी के विस्तार से कोई लाभ नहीं। कहना यह है कि अज भी प्रेम का निर्वाह मर्यादा के भीतर ही करता है। वह गुरु का उपदेश ध्यान से सुनता है, पर प्राण देता है प्रिया के पीछे। दशरथ के बालक होने के कारण वह कर्तव्य की प्रेरणा से विरह के आठ वर्ष किसी प्रकार काट देता, फिर दशरथ के**

---

१—कुमारसंभव, ८।४७-५२

शासन के योग्य हो जाते ही उन्हें राज्य सौंपकर प्रायोपवेशन द्वारा प्राण-त्याग करता है।[२]

अस्तु, कालिदास ने राधा-कृष्ण के विधि-विहीन प्रेम को अपने काव्य का विषय नहीं बनाया, यद्यपि कवि होने के नाते प्रसंग निकालकर उसका निर्देश-मात्र अवश्य कर दिया। परंतु इस वाद को रोकने में उन्हें सच्ची सफलता नहीं मिली। जनता धीरे-धीरे आसन-लीला में विशेष रस लेने लगी और बड़े-बड़े उपासना-मंदिरों में उसका प्रदर्शन होने लगा। निदान श्री जयदेव का उदय हुआ, जिन्होंने राधा-कृष्ण की पूर्व-निर्दिष्ट केलिकला के वर्णन द्वारा 'कलि-कलुष-ज्वर' को शांत करने का उद्योग किया। कालिदास में उक्त 'कलि-कलुष' का कोई संकेत नहीं, परंतु उनमें स्वच्छ प्रेम का मुक्त मार्ग है। उनके बाद हमें उदीच्य कवि आर्य श्यामिलक के अनूठे भाण 'पादताडितक' में 'राधिका', 'कुब्जा' और 'ताथागती' उपासकों का एक ऐसा चित्र मिलता है जो हमारी आँखें खोल देता है। उसमें कहा गया है—

......तथा ह्येष धान्त्रस्तां नः प्रियसखीमनवेक्षया वेशतापसीव्रतेन कर्शयति। सा हि तपस्विनी—

नेत्राम्बुपक्ष्मभिरराल‌घनासिताग्रैः नेत्राम्बुधौतवलयेन करेण वक्त्रम्।
शोकं गुरुं च हृदयेन समं बिभर्ति त्रीणि त्रिधा त्रिवलिजिह्मित रोमराजिः ॥९७॥

तदुपालस्यसे तावदेनम्। भो भगवन्निरपेक्ष! करुणात्मकस्य भगवतो। मैत्रीमादाय वर्तमानस्य त्वयि मुद्रितायां योषिति युक्तमुपेक्षाविहारित्वम्?

किं ब्रवीषि 'गृहीतो वञ्चितकस्यार्थः, स्पृष्टोस्म्युपासकत्वेन, ईदृशः संसारधर्म इत्युक्तं तथागतेन' इति। मा तावद् भोः। तस्यामेव भगवतस्तथागतस्य वचनं प्रमाणं नान्यत्र॥

आगे कहा गया है—

एष प्रहसित;। किं ब्रवीषि? 'न खलु तथागतशासनं शंकितव्यं। अन्यद्धि शास्त्र-मन्यथापुरुषप्रकृतिः। न वयं वीतरागाः' इति। यद्येवमर्हति भवांस्तत्रभवतीं राधिकां तथाभूतां शोकसागरादुद्धर्तुम्।

वेशतपस्विनी तत्रभवती 'राधिका' के विषय में और क्या कहा जाय? कवि के भाण में विट का कथन है—

---

२—रघुवंश, ८।९१-९५

विप्रोष्यागत उत्सुकामवनतामुत्सङ्गमारोपय ।
स्कन्धे वक्त्रमुपोपधाय रुदतीं भूयस्समाश्वासय ।
आबद्धां महिषीविषाणविषमामुन्मुच्य वेणीं ततो ।
कं लोचनतोयधौप्पमलकं छिन्धि प्रियाया स्वयम् ।।५९।।

इस वियोगिनी 'राधिका' के साथ यहाँ सुहागिनी 'कुब्जा' का भी परिचय लीजिए—

अहो धिकष्टमेवं धर्मज्ञस्य भवतो न युक्तमुपयुक्तस्त्रीनिन्दां कर्तुम् ।

अपिच

यद्यपि वयस्य कुब्जानालीनलिका कृशा च गबुला च ।
असतामिव संप्रीतिर्मुखरमणीया भवति तावत् ।।८३।।

न चेयं ताभ्योऽरण्यवासिनीभ्यः पताकावेश्याभ्यः पापीयसी । किं ब्रवीषि ? 'काम्य' इति । कथं न जानीषे—

यास्त्वं मत्ताः काकिणीमात्र पण्याः नीचैर्गम्याः सोपचारैर्नियम्याः ।
लोकैश्छन्नं काममिच्छन् प्रकामं कामोद्रेकात् कामिनीर्यास्यरण्ये ।।८४।।
त्यक्त्वा रूपाजीवां यस्त्वं कुब्जां वयस्य कामयसे ।
कुब्जामपि हि त्यक्त्वा गन्तासि स्वामिनीमस्याः ।।८५ ।।

उपर्युक्त उद्धरणों का पूरा विवरण देना यहाँ अनावश्यक है। इनमें मुद्रिता नारी वेशतपस्विनी तत्रभवती वियोगिनी 'राधिका' और 'कुब्जा' का जो उल्लेख हुआ है और इनके प्रति तथागती 'उपासक' के जिस भाव और संबंध की ओर संकेत है, वही महत्त्वपूर्ण है। परंतु उक्त राधिका और कुब्जा के साथ कृष्ण का यहाँ कोई उल्लेख नहीं है। यह रचना समय की दृष्टि से स्कंदगुप्त के समय की कही जा सकती है। तो निष्कर्ष यह निकला कि उस समय तक, 'राधिका' का संबंध कृष्ण से न होकर तथागती 'उपासकों' से ही था। परंतु इस राधिका का रहस्य 'मुद्रिता-योषित्' का मर्म समझे बिना स्पष्ट नहीं हो सकता। श्री गुह्यसमाजतंत्र के षोडश पटल में 'मुद्रामंत्र-विधानज्ञ' के लिये 'षोडशाब्दिका' को 'ताथागती भार्या' बनाकर 'विद्याव्रत' साधने का विधान है—

षोडशाब्दिकां गृह्य सर्वालंकारभूषिताम् ।
चारुवक्त्रां विशालाक्षीं प्राप्य विद्याव्रतं चरेत् ।।
लोचनापदसंभोगी वज्रचिह्नं तु भावयेत् ।

मुद्रामंत्रविधानज्ञो मंत्रतंत्रसुशिक्षिताम् ॥
कारयेत् ताथागतीं भार्यां बुद्धबोधिप्रतिष्ठिताम् ।

राधा के प्रसंग में इस 'ताथागती भार्या' का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस साधना के कारण यही 'साधिका' या 'राधिका' भी है—'राध-साध-संसिद्धौ' न्याय से। 'प्रज्ञोपायविनिश्चय' में 'मुद्रा'-साधना का विधान और स्पष्ट है—

प्रज्ञापारमितासेव्या सर्वथा मुक्तिकांक्षिभिः ।
परमार्थे स्थिता शुद्धा संवृत्या तनुधारिणी ॥२२॥
ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता ।
अतोऽर्थं वज्रनाथेन प्रोक्ता बाह्यार्थसंभवा ॥२३॥
ब्राह्मणादि कुलोत्पन्नां मुद्रां वै अंत्यजोद्भवाम् ।
× × ×
गम्यागम्यादि संकल्पं नात्र कुर्यात् कदाचन ।
मायोपमादियोगेन भोक्तव्यं सर्वमेव हि ॥२९॥

तथा इसमें 'मन्मथ राजा वज्रसत्त्व' की 'प्रसाधना' में 'मुद्रालिंगन' का विशिष्ट महत्त्व बताया गया है—

मुद्रालिंगनसंयोगाद् वज्रावेशप्रवर्तनात् ।
सक्षीराधरपानाच्च तत्कंठध्वनिदीपनात् ॥ ३८ ॥
विपुलानंदसंभोगात् तदूरुस्फोटनाद् ध्रुवम् ।
न चिरान्मन्मथो राजा वज्रसत्त्वः प्रसिध्यति ॥ ३९ ॥

'मुद्रा' के इस महत्त्व को दृष्टि में रखकर विचार करें तो आर्य श्यामिलक के 'तथागत' की 'मुद्रिता योषित्' और वियोगिनी 'तत्रभवती राधिका' एवं 'ताथागती' भार्या का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। किंतु वज्र-शासन में साधिका राधिका का संयोग ही विहित है, वियोग नहीं। मुद्रिता राधिका के विषय में यह न भूलना चाहिए कि वह जयदेव की 'सकलसंसारवासनाबद्धशृंखला' नहीं, प्रत्युत 'प्रज्ञापारमिता' है—

प्रज्ञापारमिता चैषा सर्वपारमितामयी ।
समता चेयमेवोक्ता सर्वबुद्धाग्रभावना ॥ १८ ॥४

'गुह्यसमाज तंत्र' ( अ० ४ ) में भी उसे 'प्रज्ञा' कहा गया है—

षोडशाब्दिकां संप्राप्य योषितं कांतिसुप्रभाम् ।
गंधपुष्पाकुलां कृत्वा तस्य मध्ये तु कामयेत् ॥
अभिषेच्य च तां प्रज्ञां मामकीं गुणमेखलाम् ।

'अद्वयवज्रसंग्रह' के 'सेकतान्वयसंग्रह' में प्रज्ञा के संबंध में लिखा है—

तत्र ग्राह्यग्राहकाकारधारिणी बुद्धिश्चतुर्धातुपंचस्कंधस्वरूपषड्विषयात्मकांगनास्वभावा प्रज्ञा। तस्या निमित्तभूताया बोधिचित्तज्ञानमिति पूर्व्वा व्युत्पत्तिः।

इसमें बुद्धि या प्रज्ञा के अंगना-स्वभाव को ध्यान में रखते हुए ब्रह्मवैवर्त में दिए गए राधिका के रूप को यशोदा के शब्दों में सुनिए—

अहं यशोदा नंदोऽयं बुद्धिरूपे निबोध माम्।
वृषभानुसुता त्वं च मां निशामय सुव्रते॥

श्रीकृष्ण-जन्मखंड के एक-सौ-दसवें अध्याय के इस अवतरण में राधिका को स्पष्ट ही 'बुद्धिरूपा' कहा गया है। अब उसी के एक-सौ-ग्यारहवें अध्याय में राधिका का आत्म-परिचय देखिए—

पुरा नन्देन दृष्टाऽहं भाण्डीरे वटमूलके।
मया च कथितो नन्दो निषिद्धश्च प्रजेश्वरः॥
अहमेव स्वयं राधा छाया रायणकामिनी।
रायणः श्रीहरेरंशः पार्षदप्रवरो महान्॥
राशब्दश्च महाविष्णुर्विश्वानि यस्य लोमसु।
धात्री माताऽहमेतेषां मूलप्रकृतिरीश्वरी।
तेन राधा समाख्याता हरिणा च पुरा बुधैः॥

'राधा' के 'धा' के बारे में तो कोई चिंता नहीं, परंतु इस 'रा' का रहस्य क्या है? 'राशब्दश्च महाविष्णुः' में 'रा' का संकेत है 'महाविष्णु'। तो फिर इस 'महाविष्णु' का 'रायणः श्रीहरेरंशः' से भी कुछ संबंध है ही। पर रायण का भेद स्वयं महादेव जी के मुख से सुनिए—

तस्य प्राणाधिका राधा बहुसौभाग्यसंयुता।
महाविष्णोः प्रसूः सा च मूलप्रकृतिरीश्वरी॥
मानिनीं राधिकां सन्तः सेवन्ते नित्यशः सदा।
सुलभं यत्पदाम्भोजं ब्रह्मादीनां सुदुर्लभम्।
स्वप्ने राधापदांम्भोजं नहि पश्यन्ति बल्लवाः।
स्वयं देवी हरेः क्रोडे छायारूपेण कामिनी॥
स च द्वादशगोपानां रायणः प्रवरः प्रिये।
श्रीकृष्णांशश्च भगवान्विष्णुतुल्यपराक्रमः॥

सुदामशापात्सा देवी गोलोकादागता महीम्।
वृषभानुगृहे जाता तन्माता च कलावती ॥

'ब्रह्मवैवर्त' के 'प्रकृति-खंड' के 'अष्टचत्वारिंश अध्याय' का यह अंश विशेषतः विचारणीय है। 'रायण' को इसमें 'श्रीकृष्णांश' ही नहीं, 'पराक्रम' में विष्णुतुल्य भी कहा गया है और वास्तव में 'कामिनी' राधा से उसी का लगाव भी है। सो यहाँ भी ध्यान देने की बात है कि 'श्रीगुह्यसमाजतंत्र' में कहा गया है—

कायवज्रो भवेत् ब्रह्मा वाग्वज्रस्तु महेश्वरः।
चित्तवज्रधरो राजा सैव विष्णुर्महर्धिकः ॥

उक्त समाजतंत्र के 'सप्तदशपटल' के इस कथन में 'राजा' शब्द बड़े महत्त्व का है। हमारी समझ में यही राजा 'रायण' वा 'रायाण' के मूल में है। 'राजन्' से तो 'रायण' का साम्य है ही, साथ ही 'राजयान' से भी 'रायण' बनना सरल है। 'वज्रयान' की 'मुद्रिता' 'राधिका' को हम पहले देख चुके हैं, 'विष्णु' वा 'राजयान' की राधिका को यहाँ देख सकते हैं। 'ज्ञानसिद्धि' के प्रथम परिच्छेद में कहा गया है—

सर्वव्यापी महावज्रः सर्वाकाशप्रतिष्ठितः।
सर्वसत्त्वमनोव्यापी सर्वपुण्यमहोदयः ॥ २१ ॥
अन्योन्याव्यापको वज्रः सर्ववित् लोकनायकः।
एष वज्रधरो राजा सर्वमंत्रेषु वर्णितः ॥ २२ ॥

इसी राजा को हम 'रायाण' का मूल समझते हैं। इस राजा वज्रधर को सब देवों के ऊपर लोकनायकता प्रदान की गई और त्रिदेवों को उसकी किंकरता। इसी 'ज्ञानसिद्धि' के—अठारहवें परिच्छेद में लिखा है—

नारायणं समाक्रम्य प्रसह्य बलवानधः।
रूपिणीं तु समाकृष्य उपभोगैर्भुनक्त्यसौ ॥ १५ ॥

तथा "साधनमाला" के तारोद्भवकुरुकुल्लासाधन' में मिलता है—

तया मुद्रया ब्रह्मेन्द्र-रुद्र-नारायण प्रभृतयः समाकृष्टा समागम्य किङ्करतामुपगम्य साधकाभिलषितं सम्पादयन्ति। ततःप्रभृति जन्मजरामरणरहितः सिद्धोलोकधातून् गत्वा तथागतान् पश्यति, भूमिधारण्यादिकं प्राप्नोति।

'श्रीगुह्यसमाज तंत्र' में 'विष्णु' वा 'नारायण' की जो स्थिति थी वह समय के साथ कुछ से कुछ हो गई। इधर ब्राह्मणों का महत्त्व बढ़ा तो उधर बौद्धों को

उनकी उन्नति रुकी और उनसे कुछ पार न पाया तो उनके देवी-देवताओं की गति बनी और फलतः त्रिदेव भी अपमानित हुए। वज्र देवता की सवारी के काम में विष्णु भगवान् तक आने लगे। फिर 'नारायण' और 'विष्णु' को 'राजा' कौन कहे? राजा तो बस 'वज्रसत्त्व' ही रह गए और वज्रयान ही किसी न किसी रूप में 'सिद्ध' का राजयान रहा। हम पहले ही कह चुके हैं कि हमारी समझ में वही 'राजयान' आगे चलकर 'रायण' वा 'रायाण' के रूप में व्यक्त हुआ। 'राजयान' से 'राययान' बना और उससे 'रायान', फिर 'रायन'; तथा इसी से बँगला का 'आयान' और 'आयन' भी। अस्तु, सारी बातों के विचार से 'ब्रह्मवैवर्त' में 'राधा' के जन्मादि के विषय में ठीक ही कहा गया है—

दृष्ट्वा कृष्णं च सा देवी भर्त्सयामास तं तदा।
सुदामा भर्त्सयामास तां तथा कृष्णसंनिधौ॥
क्रुद्धा शशाप सा देवी सुदामानं सुरेश्वरी।
गच्छ त्वमासुरीं योनिं गच्छ दूरमतो द्रुतम्॥
शशाप तां सुदामा च त्वमितो गच्छ भारतम्।
भव गोपी गोपकन्या मुख्याभिः स्वाभिरेव च॥
तत्र ते कृष्णविच्छेदो भविष्यति शतं समाः।
तत्र भारावतरणं भगवांश्च करिष्यति॥
इति शप्त्वा सुदामाऽसौ प्रणम्य जननीं हरिम्।
साश्रुनेत्रो मोहयुक्तस्ततो गन्तुं समुद्यत;॥
राधा जगाम तत्पश्चात्साश्रुनेत्राऽपि विह्वला।
वत्स! क्व यासीत्युच्चार्य पुत्रविच्छेदकातरा॥
कृष्णस्तां बोधयामास विद्यया च कृपानिधिः।
शीघ्रं संप्राप्स्यसि सुतं मा रुदस्त्वं वरानने॥
स चासुरः शंखचूडो बभूव तुलसीपतिः।
मच्छूलभिन्नकायेन गोलोकं भारतं सती॥
वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह।
अयोनिसंभवा देवी वायुगर्भा कलावती॥
सुषुवे मायया वायुं सा तत्राविर्बभूव ह।
अतीते द्वादशाब्दे तु दृष्ट्वा तां नवयौवनाम्॥

साधं रायाणवैश्येन तत्संबंधं चकार सः।
छायां संस्थाप्य तद्गेहे साऽन्तर्धानमवाप ह ॥
बभूव तस्य वैश्यस्य विवाहश्छायया सह।
गते चतुर्दशाब्दे तु कंसभीतेश्छलेन च ॥
जगाम गोकुलं कृष्णः शिशुरूपी जगत्पतिः।
कृष्णेन सह राधायाः पुण्ये वृन्दावने वने।
विवाहं कारयामास विधिना जगतां विधिः।
स्वप्ने राधापदाम्भोजं नहि पश्यन्ति बल्लवाः ॥
स्वयं राधा हरेः क्रोडे छाया रायणमन्दिरे।

सारांश यह कि 'साक्षात् सुरेश्वरी ही सुदामा के शाप के कारण भारत में वृषभानु वैश्य की कन्या राधा बनीं। राधा जब बारह वर्ष की हुईं तो रायाण वैश्य से उनका संबंध हुआ। राधा अपनी छाया छोड़कर अंतर्धान हो गईं और उस छाया ही से रायाण का विवाह हुआ। चौदह वर्ष बीतने पर कृष्ण गोकुल गए तब वृंदावन में उनसे राधा का विवाह हुआ। इस प्रकार स्वयं राधा तो हरि के क्रोड़ में विराजती हैं और उनकी छाया रायण के घर।'

उपर्युक्त अवतरण वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने में बहुत-कुछ समर्थ है। सीधी भाषा में इसी को यों कह सकते हैं कि वज्रयान की प्रज्ञापारमिता अथ च 'मुद्रिता' राधिका वास्तविक राधा नहीं, वह तो उसकी छाया भर है। वज्रयानी इसी को भूल से सच्ची राधिका समझता है। इसका परिणाम होता है कि लोग 'मूढ़ता'-वश 'राधिका' को 'रायण' की पत्नी समझने लगते हैं। उसी पुराण में 'श्रीकृष्ण-जन्म खंड' के 'तृतीय अध्याय' में कहा गया है—

छायया कलया वाऽपि परशक्त्या कलङ्किना।
मूढा रायणपत्नीं त्वा वक्ष्यन्ति जगतीतले ॥

और 'रायण' का रूप है—

रायणः श्रीहरेरंशो वैश्यो वृन्दावने वने।
भविष्यति महायोगी राधाशापेन गर्भजः ॥

वैष्णव-साधना में वह बन गया 'महायोगी'। महाभोगी नहीं। अस्तु, भक्त की प्रार्थना है भगवान् कृष्ण अथवा राधायुक्त 'श्रीकृष्ण' से—

बालं नीलाम्बुजाभमतिशयरुचिरं स्मेरवक्त्राम्बुजं तं
ब्रह्मेशानन्तधर्मैः कतिकतिदिवसैः स्तूयमानं परं यम्।
ध्यानासाध्यमृषीन्द्रैर्मुनिगणमनुजैः सिद्धसंघैरसाध्यं
योगीन्द्राणामचिन्त्यमतिशयमतुलं साक्षिरूपं भजेऽहम्॥

'ब्रह्मवैवर्त' के 'श्रीकृष्ण-जन्मखंड' के अष्टम अध्याय का यह श्लोक बड़े महत्त्व का है। इसमें कुछ पते की बात है। थोड़ा ध्यान देकर देखिए कि इसमें 'सिद्धसंघ' तथा 'योगींद्रों' के संबंध में क्या कहा गया है। सच है, किसी 'सिद्ध' वा योगी ने इस 'बाल' को कब समझा! उसकी सारी शक्ति तो 'वज्रोली' और 'महासुख' के संपादन में ही लगी रही। तभी तो बाबा तुलसीदास को भी झख मारकर अपने तारक काव्य 'रामचरितमानस' के मंगलाचरण में लिखना पड़ा कि श्रद्धा और विश्वास के बिना सिद्ध लोग अपने अंतस् में ही स्थित ईश्वर को नहीं देख पाते—

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥

और एक प्रकार से इसी की व्याख्या में 'कवितावली' के उत्तरकांड में कहना पड़ा—

बरन धरम गयो, आश्रम निवास तज्यो,
आसन चकित सो परावनो परो सो है।
करम उपासना कुबासना बिनास्यो, ज्ञान,
बचन, बिराग वेष जगत हरो सो है।
गोरख जगायो योग, भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते सो केलि ही छरो सो है।
काय मन बचन सुभाय तुलसी है जाहि,
राम नाम को भरोसो ताहि को भरोसो है॥ ८४॥

तुलसी ने कलि-केलि के विनाश का जो उपाय रचा वह मानव को 'सियाराम-मय' बनाना था, किंतु 'जिह्वोपस्थी' ने उसे अपने अनुकूल न समझा और न उससे किसी 'शृंगारी' का पेट भरा। निदान उसका जी लगा 'राधा-माधव' की 'रहःकेलि' में है। विषय-भोग में नहीं, भगवान के भजन में ही। पर वह भजन भी सदा एकरस नहीं रहा। धीरे-धीरे 'रायाण' का उसमें सर्वथा लोप हो गया और राधा माधव की स्वकीया सिद्ध कर ली गई। ऊढ़ा और अनूढ़ा का 'द्वंद्व' भी आता रहा। परंतु

स्वकीया राधा का स्वागत सर्वत्र नहीं हुआ। प्रेम-प्रपंच में परकीया ही खरी मानी गई और उसमें भी 'ऊढ़ा' ही सिद्ध ठहरी। सो सब कैसे हुआ, इसपर विचार करना यहाँ संभव नहीं। यहाँ इतना ही कहना भलं है कि वास्तव में राधा को उपासना में सच्ची प्रतिष्ठा मिली तब, जब 'द्वैताद्वैतदर्शन' के प्रवर्तक आचार्य निंबार्क ने अपनी मर्मभरी 'दशश्लोकी' में लिख दिया—

> अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
> विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
> सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा
> स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥ ५ ॥

अन्यथा 'राधिका' के विषय में भ्रांतियाँ तो अनेक थीं और वज्र-मंडल में उसका सत्कार भी कुछ और ही था। 'वज्र-मंडल' से निकलकर 'व्रज-मंडल' में राधिका ने जो रंग रचा उसका परिचय सभी को कुछ न कुछ अवश्य है, परंतु वह राधिका अभी आँख से ओझल ही है जिसका उल्लेख आर्य श्यामिलक ने 'मुद्रिता' के रूप में किया है और जिसे जाने बिना 'वंदिता' राधा को कोई नहीं समझ सकता, न यही लख सकता कि गीतगोविंदकार की इस वाणी का वास्तविक रहस्य क्या है—

> यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
> मधुरकोमलकान्तपदावलिं, शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

जयदेव की भाँति ही कोई भी राधा-माधव का भक्त, सिद्धरस कवि, आज आपसे यही कहेगा, पर वज्रयानी? उसका तो आज कहीं ठीक पता भी नहीं, राधामाधव की उपासना में ही वह घुल-मिल गया।

# प्रवृत्ति-निवृत्ति

[ श्री रामनरेश वर्मा ]

संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न दर्शनों और संप्रदायों में प्रवृत्ति-मार्ग तथा निवृत्ति-मार्ग के विषय में भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। प्रस्तुत विवेचन में सामान्य रूप से कतिपय दर्शनों और संप्रदायों के अनुसार इस विषय का स्पष्टीकरण किया जायगा और विशेष रूप से इस विषय में भागवत धर्म, नारायणीय धर्म अथवा वासुदेव-धर्म के पक्ष का सविस्तर निरूपण किया जायगा। भागवत धर्म की दृष्टि से इन दो मार्गों के विशेष निरूपण का कारण यह है कि स्वनामधन्य लोकमान्य तिलक ने 'कर्मयोग शास्त्र' की भूमिका में भागवत धर्म के साथ प्रवृत्ति-मार्ग का बड़ा ज़बर्दस्त गँठबंधन किया। भागवत धर्म में प्रवृत्ति-मार्ग का ही ग्रहण है, निवृत्ति-मार्ग का नहीं—यही उनकी अन्यतम प्रमुख स्थापना है।[1] तिलक जी के अत्यंत संरंभपूर्ण विवरण एवं भ य व्याख्यात्मक निरूपण का परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े मेधावियों ने भी भागवत धर्म के निवृत्ति-निषेधात्मक एवं प्रवृत्तिपर रूप को निस्संदिग्ध स्वीकार कर लिया। अवश्य ही कुछ लोग ऐसे रहे होंगे जिनके मन में भागवत धर्म की प्रवृत्ति में निरतिशय ऐकांतिकता खटकती रही। पर उन्होंने कभी खुलकर तिलक महोदय की स्थापना का प्रत्याख्यान नहीं किया। एक बार भागवत धर्म के उद्भव पर विचार करते हुए पी० सी० दिवान जी ने भागवत धर्म के मूल पुरुष एवं बदरिकाश्रम के तपस्वी श्री नारायण को निवृत्ति-मार्ग का आद्य आचार्य घोषित किया[2] और इस प्रकार दबी जबान से उन्होंने स्व० तिलक के मत में अपनी अनास्था व्यक्त की। ऐसे ही जिन समीक्षकों ने हिंदी साहित्य की निर्गुण और सगुण काव्य-परंपराओं के अंतस्तल में पैठकर चिंतन तथा मनन किया है और साथ ही जो

---

१—गीता-रहस्य, हिंदी अनुवाद ( चतुर्थावृत्ति ), पृ० ५४९ तथा ५५४-५५५ एवं अन्यत्र।

२—एनल्स ऑव दि भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द २३, पी० सी० दिवान जी, 'ओरिजिन ऑव दि भागवत ऐंड दि जैन रिलीजन्स'।

दोनों परंपराओं का मूल एक ही मानते हैं, उनके समक्ष लोकमान्य की स्थापना का सोना आना चाहिए था, संभव है आया हो, किंतु अनुसंधान और ऊहापोह की कसौटी पर कसा नहीं गया।

प्राचीन काल में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति की धारणा अत्यंत जटिल, दुर्विज्ञेय तथा अवश्य ज्ञातव्य मानी जाती थी। इसी से श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने असुरों का प्रथम एवं प्रमुख दोष बताया है प्रवृत्ति और निवृत्ति का अनवबोध—

द्वौ भूत सर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्तः आसुरं पार्थ मे शृणु॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥

इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन दोनों दृष्टियों से प्रवृत्ति-निवृत्ति का विमर्श अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति शब्दों के मूल में वर्तनार्थक 'वृत्' धातु है। इस धातु से यथाक्रम 'प्र' एवं 'नि' उपसर्गपूर्वक भाव अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से ये शब्द बनते हैं। अतः इनका सीधा अर्थ क्रमशः 'प्रवर्तन' तथा 'निवर्तन' हुआ। सामान्यतः प्रवर्तन और निवर्तन कर्ममूल होते हैं, अतएव कर्म में प्रवर्तन को प्रवृत्ति की, तथा कर्म से निवर्तन को निवृत्ति की संज्ञा दी जाती है। किंतु शरीरारंभ के साथ ही साथ अंतःकरण एवं वाक् के आरंभ को भी प्रवृत्ति कहते हैं और इसी प्रकार इनके आरंभ-प्रतिरोध को निवृत्ति कहते हैं।

महर्षि कणाद के अनुसार प्रत्येक चेतन में इच्छा से उत्पन्न होनेवाले प्रयत्न-विशेष को प्रवृत्ति, और द्वेष से उत्पन्न होनेवाले प्रयत्न-विशेष को निवृत्ति कहा जाता है। प्रयत्न-विशेष चेष्टा-स्वरूप होते हैं। इच्छा उत्पन्न होने पर हित की प्राप्ति के लिये शारीरिक चेष्टाएँ होती हैं और द्वेष उत्पन्न होने पर वे चेष्टाएँ अहित के निवारण के लिये देखी जाती हैं। अपने तईं तो इन चेष्टाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है किंतु अन्यत्र इनका अनुमान करना पड़ता है। जैसे दूसरे के शरीर में चेष्टा देखकर, स्वार्थानुमान की शैली में हम प्रतिज्ञा करते हैं कि 'यह चेष्टा आत्मजनित है'; हेतु देते हैं 'चेष्टा सामान्य होने के कारण'; और दृष्टांत की कुक्षि में 'अपनी चेष्टा' रहती है; ठीक इसी तरह शारीरिक चेष्टा के उत्पादक यत्न के विषय में हमारी प्रतिज्ञा का स्वरूप होता है 'प्रयत्न का आत्मजनित होना', 'प्रयत्न का सामान्यत्व' हेतु रहता

है और वह निजी प्रयत्न के उदाहरण से परिपुष्ट होता है। इस प्रकार दूसरे व्यक्तियों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का अनुमान द्वारा बोध होता है और अपनी प्रवृत्ति-निवृत्ति का प्रत्यक्ष बोध होता है।[3]

किंतु महर्षि गौतम इच्छा एवं द्वेष-दोनों से उत्पन्न होनेवाले प्रयत्नविशेष को प्रवृत्ति का ही अभिधान प्रदान करते हैं। अवश्य ही इन दो रूपोंवाली प्रवृत्ति के अनुसारी परिणामों में, कणाद की प्रवृत्ति और निवृत्ति की भाँति ही, अत्यंत अंतर है। यागादि में इच्छाजन्य रागात्मिका प्रवृत्ति धर्म उत्पन्न करती है और द्वेषजन्य प्रवृत्ति हिंसादि कृत्यों में अधर्म की सृष्टि करती है। इस प्रकार सारा संसार राग तथा द्वेष, इन दो रूपोंवाली प्रवृत्ति से परिचालित हुआ करता है।[4]

प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—कारणरूपा और कार्यरूपा। कारणरूपा प्रवृत्ति-किसी कार्य को संपादित करने की इच्छा—'चिकीर्षा' शब्द से अभिहित की जाती है। इसी से उसे दार्शनिक भाषा में 'यत्नत्वजातिमती' कहते हैं। 'भाषापरिच्छेद' के अनुसार चिकीर्षा के आकारघटक तीन अवयव होते हैं-कृतिसाध्यता ज्ञान, इष्टसाधनता ज्ञान और उपादान की अध्यक्षता।[5] 'अमुक कार्य हम कर सकते हैं' इस बोध को ही कृतिसाध्यता ज्ञान कहते हैं। 'अमुक कार्य दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति एवं चरम सुख की प्राप्ति में साक्षात् या परंपरया सहायक है' इत्याकारक ज्ञान को ही इष्टसाधनता ज्ञान कहते हैं। समवायी कारणों का अर्थात् कार्योपयोगी उपकरणों का अधिकार ही उपादान की अध्यक्षता है।

कार्यरूपा प्रवृत्ति धर्माधर्मस्वरूप होती है। हम जानते हैं कि यज्ञ से धर्म होता

---

३—'प्रवृत्ति निवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिंगम्'—कणादसूत्र। प्रत्यगात्मनि स्वात्मनीत्यर्थः। इच्छाद्वेषजनिते प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रयत्नविशेषौ ताभ्यां च हिताहित-प्राप्तिपरिहारफलके शरीरकर्मणी चेष्टालक्षणे जन्येते यथा च परशरीरे चेष्टां दृष्ट्वा इयं चेष्टा प्रयत्नजन्या, चेष्टात्वात्, मदीय चेष्टावत्, स च प्रयत्नः आत्मजन्यः··प्रयत्नत्वात् मदीय प्रयत्नवत् इति परात्मनोऽनुमानम्।—वाचस्पत्यभिधान कोष, पंचम भाग, पृ० ४४९३

४—'इच्छद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः'—गौतम। तत्र रागनिबंधना यागादौ प्रवृत्तिः धर्मं प्रसूते द्वेषनिबंधना हिंसादौ प्रवृत्तिरधर्मम्। तावेतौ रागद्वेषौ संसारमनु-वर्तयतः। —वाचस्पत्य०, पंचम भाग, प्र० सं० ४४९३

५—चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिस्तथा।

उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं मतम्॥ (भाषा—परिच्छेद)

है और अनभ्यागमन से पाप। परंतु नित्य का अनुभव प्रमाण है कि प्रायः तत्काल न तो पुण्यलाभ होता है और न पाप की संप्राप्ति ही। पर कुछ दिनों के अनंतर, चिरध्वस्त व्यापार होने पर भी इनका शुभाशुभ परिणाम भोगना पड़ता है।[६]

भाषा-परिच्छेद में मनुष्य के संपूर्ण प्रयत्नों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनकारण।[७] इनमें प्रवृत्ति की चर्चा पूर्व ही की जा चुकी है। जीवनकारण का तात्पर्य उन प्रयत्नों से है जिनके बिना प्राणी जीवन धारण नहीं कर सकता; जैसे श्वास-प्रश्वासादि के प्रयत्न। ये प्रयत्न निसर्गसिद्ध हैं। इनके लिये अतिरिक्त प्रयत्न की आवश्यकता नहीं। किंतु निवृत्ति के लिये द्विष्टसाधनता ज्ञान, अर्थात् अमुक वस्तु हमारा अपकार ही करेगी, उपकार नहीं—इस प्रकार का बोध, अवश्य अपेक्षित रहता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति एक दूसरे के प्रतियोगी हैं। इनमें परस्पर ३६ का संबंध है। इसी से शब्दकल्पद्रुम में निवृत्ति का अर्थ अप्रवृत्ति भी बतलाया गया है।[८] इस प्रकार संक्षेप में प्रवृत्ति-निवृत्ति के विषय में कुछ दार्शनिक धारणाओं को हृदयंगम कर लेने के अनंतर अब कतिपय सांप्रदायिक परंपराओं में इसके स्वरूप की गवेषणा करनी चाहिए।

मान्य धारणा है कि वैदिक धर्म का प्रवाह अनंत काल से प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो मार्गों में विभक्त होकर बह रहा है। इसकी झलक ईशावास्योपनिषत् के प्रारंभिक दोनों मंत्रों में दिखाई देती है।[९] स्वामी शंकराचार्य ने इन मंत्रों

---

६—द्रष्टव्य गौतमप्रणीत न्यायसूत्र ४।१ पर वात्स्यायन की वृत्ति।

७—प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम्।
एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिदर्शितम्॥
निवृत्तिश्च भवेद्द्वेषाद्द्विष्टसाधनता धियः। (भाषा०)

८—शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय कांड, पृ० सं० ८९९–९००; इन शब्दों के अन्य अनेक अर्थों के लिये वाचस्पत्यभिधान कोष एवं हिंदी-विश्वकोष भी द्रष्टव्य हैं।

९—ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥
'नान्यथेतोऽस्ति' से इनके अतिरिक्त किसी अन्य तीसरे मार्ग की असंभवनीयता व्यक्त की गई है।

के भाष्य में उक्त धर्म के इन दोनों पक्षों की जमकर स्थापना की है।[१०] प्रमाण में उन्होंने महाभारत का उद्धरण दिया है कि—

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च विभावितः ॥[११]

पुराणांतर भी आचार्य की धारणा का पोषण करते हैं। मार्कंडेयपुराण का कथन है—

सम्यगेतन्ममाख्यातं भवद्भिर्द्विजसत्तमाः ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥

इसी प्रकार अग्निपुराण का उद्घोष है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥

किंतु वैदिक धर्म में प्रवृत्ति और निवृत्ति का वास्तविक स्वरूप जानने के लिये पूर्वोक्त दार्शनिकों के मत यथेष्ट नहीं हैं। अंतरंग प्रमाणों के आधार पर प्रतीत होता है कि उस समय यागादि 'इष्ट' एवं उद्यानादि 'पूर्त्त' कर्मों के फलस्वरूप ऐहिक तथा आमुष्मिक सुखोपभोग की स्पृहा रखनेवाला व्यक्ति प्रवृत्तिपरायण कहा जाता था और लौकिक-अलौकिक उभयविध आनंदोपभोग की तृष्णाओं और संबंधों से पराङ्मुख रहकर केवल आत्मज्ञान के उपार्जन में संलग्न रहनेवाला व्यक्ति निवृत्तिपरायण कहा जाता था। इन्हीं को क्रमशः कर्ममार्गी और ज्ञानमार्गी भी कहते थे।

उपनिषदों में जहाँ-कहीं इस प्रकार के ज्ञानमार्गी की चर्चा है वहाँ उसके साथ किसी प्रकार का कर्म-संबंध व्यक्त नहीं होता। इसी से अवांतरकालीन आचार्यों ने ज्ञान के साथ कर्म का आत्यंतिक विरोध उद्घोषित किया। किंतु नैष्कर्म्यलक्षण धर्म अथवा निष्काम कर्मयोग में आरंभ से ही ज्ञान-कर्म का विरोध नहीं, समुच्चय स्वीकार किया गया। इसका कारण यह था कि जब संसार में एक क्षण

---

१०—कथं पुनरिदमवगम्यते—पूर्वेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयेन तदसक्तस्य कर्मनिष्ठेति। उच्यते; ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम्? इहाप्युक्तं 'यो हिं जिजीविषेत्स कर्म कुर्वन्' 'ईशावास्यमिदं सर्वं' 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्' इति च।

११—महाभारत, १२।२४१।६

भी कर्मशून्य[12] (जीवनकारणात्मक कर्म से शून्य) नहीं रहा जा सकता तब सामान्य रूप से आत्मज्ञान के संपादन में भी कर्मशून्यता समंजस नहीं होगी। अतः फलाभिसंधि का परित्याग करके कर्म करना ही श्रेयस्कर है, कर्म का स्वरूपतः परित्याग ठीक नहीं—यह सिद्धांत स्थिर किया गया। परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि इस धर्म में कर्म के सर्वथा, स्वरूपतः परित्याग का पक्ष किसी प्रकार मान्य नहीं था। मान्य था, पर उसको प्रधानता नहीं दी गई थी—यही इस धर्म के प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रंथ गीता से व्यक्त है।[13]

संयोग से नैष्कर्म्यलक्षण धर्म की भाँति ही भागवत धर्म का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रंथ गीता ही उपलब्ध है।[14] संभवतः संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम गीताग्रंथ में ही 'प्रवृत्ति-निवृत्ति' युग्मक का प्रयोग भी मिलता है। परंतु इन शब्दों के स्वरूपघटक लक्षण इसमें नहीं मिलते। फलस्वरूप गीता-धर्म में प्रवृत्ति-निवृत्ति की सुस्थ धारणाओं के लिये ग्रंथांतरीय लक्षणों के आश्रयण के अतिरिक्त और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

यदि हम महर्षि कणाद और गौतम आदि की तरह इच्छाजन्य प्रयत्नविशेष को प्रवृत्ति मानें और द्वेषजन्य प्रयत्नविशेष को निवृत्ति, तो एक ओर इच्छा-शून्य फलाभि संधि-रहित नैष्कर्म्य धर्म प्रवृत्ति-मार्ग नहीं कहा जा सकता और दूसरी ओर द्वेषजन्य फल-संबंध-विच्छेदरूप नैष्कर्म्य धर्म निवृत्ति-मार्ग में पर्यवसित होता है।

---

१२—न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (गी० ३।५ क)

१३—यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ (गी० ३।१७-१९)

१४—एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥
समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे।
अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम्॥ (महा० १२।३४८।८)

विशेष द्रष्टव्य, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, डा० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर आदि का मत।

यदि हम अग्निपुराण में कहे गए प्रवृत्ति-निवृत्ति के लक्षण—

काम्यं कर्म प्रवृत्तं स्यान्निवृत्तं ज्ञानपूर्वकम् ।
वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः ॥[१५]

के अनुसार केवल काम्य कर्म को प्रवृत्ति-मार्ग स्वीकार करें और ज्ञानपूर्वक वेदाभ्यासादि ( नित्य ) कर्मों को निवृत्ति-मार्ग मानें तो भी नैष्कर्म्यलक्षण धर्म निवृत्ति मार्ग ही ठहरता है, प्रवृत्ति-मार्ग नहीं ।

परंतु नारायणीय धर्म के प्रतिपादक गीताग्रंथ के धर्म के विषय में महाभारत का स्पष्ट उल्लेख है कि नारायण ऋषि ने प्रवृत्तिलक्षण धर्म चलाया ।[१६] इसके अतिरिक्त गीता महाभारत के साथ अंगांगि-भाव से संबद्ध भी है । अतः महाभारत और नारायणीयोपाख्यान को दृष्टि में रखकर गीता-धर्म की प्रवृत्ति-निवृत्ति पर विचार करना सर्वाधिक समीचीन होगा ।

महाभारत के अनुसार प्रवृत्ति का लक्षण है पुनरावृत्ति, और निवृत्ति का असाधारण धर्म है परमगति—

प्रवृत्तिः पुनरावृत्तिर्निवृत्तिः परमागतिः ।[१७]

यहाँ भी प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रतिकूल धर्मतत्त्व हैं । इसलिये यदि महाभारत में कहीं निवृत्ति का लक्षण सर्वधर्मोपशम-रूप है[१८] तो प्रवृत्ति का लक्षण सर्वधर्म-स्वरूप सहज ही कल्पित किया जा सकता है ।

प्रवृत्ति-निवृत्ति के उक्त लक्षणों के परिपार्श्व में हमें महाभारत के नारायणीय धर्म की विवेचना करनी चाहिए । यतः नारायणीय धर्म का ही उपदेश गीता में किया गया है—

एवमेष महान् धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम ।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः ॥[१९]

अतएव जिस रूप में नारायणीय धर्म उल्लिखित है उसका पूर्व रूप गीता में अवश्य होना चाहिए । यदि नारायणीय धर्म केवल प्रवृत्तिपरायण या निवृत्तिपरायण

---

१५—अग्निपुराण, १६२।४

१६—प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत् । ( महा०, १२।२१७।२ख )

१७—महाभारत, १२।२१७।४ ख

१८—निर्वाणं सर्वधर्माणां निवृत्तिः परमा स्मृता । ( महा० १२।३३९।६७ क )

१९—महाभारत, १२।३४६।११

है तो गीता में उसका बीज होना चाहिए और यदि वह उभयरूप है तो उसका भी मूल गीता-धर्म में प्राप्त होना चाहिए।

नारायणीय धर्म के विषय में आधुनिक अनुसंधायकों के दो वर्ग हैं। पहला वर्ग इस धर्म के उद्भव और विकास का संबंध वेदों से जोड़ता है और दूसरा वर्ग इसे वेद-बाह्य कहकर ही संतुष्ट नहीं होता, वेद-विरुद्ध भी मानता है। संप्रति हम इस झगड़े में न पड़कर इतना ही कहते हैं कि महाभारत का नारायणीय धर्म लोक-तंत्रात्मक होते हुए भी चतुर्वेदसम्मत था। जैसे वैदिक धर्म में प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग की दो परंपराएँ थीं वैसे ही नारायणीय धर्म में भी दोनों परंपराएँ थीं। ध्यान देने पर स्पष्ट विदित होता है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति विषयक महाभारत की पूर्वोक्त कल्पना इस विषय में वैदिक धारणा के समान ही थी। संभवतः यह साम्य भी नारायणीय धर्म के चतुर्वेदसम्मतत्व में अन्यतम हेतु था। नारायणीयोपाख्यान के उपक्रम से ही इसकी पुष्टि होने लगती है—

> कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम्।
> लोकतंत्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद्धर्मः प्रवर्तते॥
> प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यस्मादेतद्भविष्यति।
> ऋग्यजुःसामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा॥[20]

नारायणीय धर्म प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयरूप था—इसे 'अभ्यास' या पुनरुक्ति का भी पोषण प्राप्त है। शौनक ने प्रश्न किया—

> कथं स भगवान्देवो यज्ञेष्वग्रहरः प्रभुः।
> यज्ञधारी च सततं वेदवेदाङ्गवित्तथा॥
> निवृत्तं चास्थितो धर्मं क्षमी भागवतः प्रभुः।
> निवृत्तिधर्मान्विदधे स एव भगवान्प्रभुः॥[21]

सौति ने बतलाया कि कुछ इसी प्रकार का प्रश्न जनमेजय ने वैशंपायन से भी किया था। वैशंपायन ने इस प्रसंग में स्वयं भगवान के द्वारा देवताओं को उपदिष्ट सारी बातें कह सुनाईं। भगवान ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का श्रीगणेश अपने ही मानसपुत्रों से बताया है। प्रवृत्ति-मार्ग की परंपरा के विषय में उनका कहना है—

२०—महाभारत, १२।३३५।३९-४०

२१—वही, १२।३४०।१-२

मरीचिरंगिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते ॥
एते वेदविदो मुख्याः वेदाचार्याश्च कल्पिताः ।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये च कल्पिताः ॥
अयं क्रियावतां पन्थाः व्यक्तीभूतः सनातनः ।
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकसर्गकरः प्रभुः ॥[२२]

इस प्रकार मरीचि आदि प्रवृत्ति-मार्ग के आचार्यों को 'वेदवेत्ताओं में प्रमुख' और 'वेदाचार्य' कहने से उनका प्रकांड कर्मकांडी होना सिद्ध है। चूँकि ये प्रवृत्ति-धर्म के धारण करनेवाले थे—सतत आवागमन के चक्र के प्रवर्तयिता थे, इसी से इन्हें प्रजापति बनाया गया था। ये, 'किं प्रजया वयं करिष्यामो' का आदर्श रखनेवाले निवृत्तिमार्गी एवं मोक्षधर्मी मनुष्यों से सर्वथा भिन्न थे। अतएव उन कर्महीन व्यक्तियों के पथ से वैषम्य दिखाने के लिये प्रवृत्ति-मार्ग 'क्रियावतां पंथाः'—कर्मठों का मार्ग—कहा गया है।

निवृत्ति-मार्ग की परंपरा के विषय में भगवान् का कथन है—

सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनंदनः ।
सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः ॥
सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः ।
स्वयमागतविज्ञाना निवृत्तिं धर्ममाश्रिताः॥
एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञानविशारदाः ।
आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः ॥[२३]

अर्थात् सन आदि सप्तर्षि निवृत्ति-धर्म का आश्रयण करनेवाले थे। उन्हें विज्ञान का स्वयंप्रकाश हुआ था। वे योगतत्त्ववेत्ता एवं सांख्य-ज्ञान के पंडित थे। धर्म-शास्त्रों में उनकी आचार्यता स्वीकृत थी। वे मोक्ष-धर्म अर्थात् परमगति के प्रवर्तक थे। इस प्रकार महाभारत की प्रवृत्ति-निवृत्ति-परंपराओं का स्वरूप पूर्वोक्त वैदिक परंपराओं से बहुत अधिक मिलता-जुलता है।

भगवान ने दोनों परंपराओं का अनुक्रम बनाने के अनंतर दोनों के माध्यम से अपने को ही प्राप्य बतलाया है—परंतु इस अंतर के साथ कि प्रवृत्तिमार्गी को वे कर्मरूप में प्राप्त होते हैं और निवृत्तिमार्गी को मोक्ष के रूप में। यथा—

२२—वही, १२।३४०।६९-७१
२३—वही, १२।३४०।७२-७४

सोऽयं क्रियावतां पन्थाः पुनरावृत्तिदुर्लभः ।
यो यथा निर्मितो जंतुः यस्मिन्यस्मिंश्च कर्मणि ॥
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा तत्फलं सोऽश्नुते महत् ।[२४]

इस श्लोक में 'क्रियावतां पंथाः' और 'पुनरावृत्तिदुर्लभः' पदों का यथाक्रम प्रवृत्ति तथा निवृत्ति पृथक्-पृथक् अन्वय ध्यान देने योग्य है । 'पुनरावृत्ति-दुर्लभः' को 'क्रियावतां पंथाः' का विशेषण बना देने पर सूक्ष्मान्वयबोध की यह विशेषता विनष्ट हो जायगी और अनुक्रम-प्राप्त अन्वय की शृंखला विच्छिन्न हो जायगी। इस प्रकार स्वरूप-भेद से एक ही उपास्य की प्राप्ति का प्रसंग भी नारायणीय धर्म में प्रवृत्ति-निवृत्ति की साहचर्य-भावना को परिपुष्ट करता है ।

नारायणीयोपाख्यान के उपसंहारात्मक अध्याय में शौनक ने नारायणीय धर्म के विषय में सब कुछ सुन लेने के बाद सौति से जो कहा है उससे इसकी पूर्ण पुष्टि हो जाती है कि वास्तव में नारायणीय धर्म प्रवृत्ति-निवृत्ति द्विरूपात्मक था । शौनक कहते हैं—

श्रुतं भगवतस्तस्य माहात्म्यं परमात्मनः ।
जन्म धर्म गृहे चैव नरनारायणात्मकः ॥
महावराह सृष्टा च पिण्डोत्पत्तिः पुरातनी ।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यो यथा परिकल्पितः ॥
तथा च नः श्रुतो ब्रह्मन् कथ्यमानस्त्वयाऽनघ ॥ [२५]

यदि नारायणीय धर्म में प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों मार्गों की स्थिति न होती तो उनकी यथावत् परिकल्पना का प्रश्न ही कैसे उठता ? अतः नारायणीयोपाख्यान के उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार से नारायणीय धर्म की प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयरूपता पूर्णतः प्रमाणित हो जाती है । आरंभ में यह संभावना की जा चुकी है कि श्रुतिप्रसूत प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयमार्गों को आत्मसात् किए बिना नारायणीय धर्म श्रुतिसंमत नहीं हो सकता था । अतएव श्रुतिसंमत नारायणीय धर्म में प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों मार्ग निश्चित रूप से ग्राह्य थे । परंतु इतने स्पष्ट प्रमाणों के रहने पर भी विद्वद्वरेण्य तिलक महोदय ने भागवत धर्म की प्रवृत्ति निवृत्ति के विषय में गज-निमीलन ही किया है । इस श्लोक—

---

२४—वही, १२।३४०।७६-७७ क
२५—महाभारत, १२।३४७।१-३क

नारायणपरो धर्मः पुनरावृत्ति दुर्लभः ।
प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः ॥[२६]

की व्याख्या में वे कहते हैं कि "यह नारायणीय धर्म प्रवृत्ति-मार्ग का होकर भी पुनर्जन्म का टालनेवाला अर्थात् पूर्ण मोक्ष का दाता है"[२७] परंतु महाभारत के अनुसार 'प्रवृत्तिः पुनरावृत्तिर्निवृत्तिः परमागतिः'[२८] को दृष्टिपथ में रखने से तिलक महोदय के व्याख्यान की निस्सारता भली भाँति व्यक्त हो जाती है। वस्तुतत्त्व की दृष्टि से विचार करने पर उदाहृत श्लोक का पूर्वार्ध निवृत्ति-मार्ग का परामर्शक है। 'पुनरावृत्तिदुर्लभता' ही 'परमगति' या निवृत्ति-मार्ग है। श्लोक का उत्तरार्ध नारायणीय धर्म की प्रवृत्तिपरता का प्रमापक है। चूँकि दोनों मार्ग नारायणीय धर्म में समभाव से स्वीकृत थे, अतएव पूर्वोक्त श्लोक में दोनों का उपादान किया गया है। 'प्रवृत्तिलक्षणश्चैव' में 'चैव' की समुच्चायकता भी दो पृथक् मार्गों के विवरण में चरितार्थ होती है। इन सबको बुद्धि में रखने से 'प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ऋषिर्नारायणोऽब्रवीत्'[२९] की उक्ति भागवत धर्म के एक देश का ही आश्रयण करनेवाली मालूम पड़ती है। परंतु कर्मयोग के एकांत पक्षपाती श्री तिलक ने इसकी उपेक्षा की। 'प्रवृत्तिलक्षणश्चैव' में 'चैव' को पार्थक्य—प्रयोजक न मानकर उन्होंने उक्त श्लोक की नई व्याख्या से कर्म को भी मोक्ष का साधन सिद्ध किया। स्मरण रखना चाहिए कि तिलक जी को छोड़कर गीता के अन्य पुराने भाष्यकारों ने कर्मयोग की 'निष्ठा' को मोक्ष का साधक नहीं कहा है, क्योंकि श्रुति का सिद्धांत है–'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। इसी से गीता के प्रमुख प्राचीन भाष्यकारों—आचार्य शंकर और रामानुज प्रभृति–ने 'निष्ठा' का सीधा अर्थ 'स्थिति' किया है। बात यह थी कि स्वामी शंकराचार्य ज्ञानमार्गी थे और श्री रामानुजाचार्य भक्तिमार्गी। अतएव उन्हें कर्मयोग को मोक्ष की निष्ठा मानने की आवश्यकता नहीं थी। केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत सिद्धांत-विरुद्ध व्याख्या न होने के कारण वह अवश्य त्याज्य भी थी। लेकिन किसी विशेष दार्शनिक संप्रदाय का पूर्वग्रह न होने पर निष्पक्ष विचार यही ज्ञात होता है कि सात्वत सिद्धांत[३०] के प्रतिपादक गीताग्रंथ में नैष्कर्म्य-लक्षण धर्म का प्रधान रूप

---

२६—महाभारत, १२।३४७।८२ ख-८३ क

२७—गीता-रहस्य, हिंदी अनुवाद ( चतुर्थावृत्ति ) पृ० सं० ६

२८—महाभारत, १२।२१७।४ ख    २९—महाभारत, १२।२१७।२ ख

३०—तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः। तंत्र सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ( भागवत, १।३।८ )

से उपदेश किया गया है। यह निष्काम कर्मयोग, वैदिक धर्म के निवृत्ति-मार्ग या सर्वकर्मसंन्यास - योग एवं प्रवृत्ति - मार्ग या सकाम कर्मयोग का संवादात्मक (सिंथेटिकल) अंतर्विकास था।

वस्तुतः वैदिक वाङ्मय के संहिता-ब्राह्मण-काल में आर्यगण ऐहिकामुष्मिक प्रेय तथा श्रेय की संप्राप्ति के लिये मंत्रों से इंद्र-विष्णु-अग्नि प्रभृति देवताओं का स्तोत्र-साधन और यज्ञों से उनका तुष्टि-विधान किया करते थे। वेदों का यही प्रारंभिक इष्टापूर्त का मार्ग प्रवृत्ति - मार्ग था। धीरे-धीरे आरण्यक और उपनिषत् काल के निवृत्ति - मार्ग से इसकी घोर प्रतिक्रिया प्रारंभ हुई। प्रवृत्तिमार्गियों को प्रमूढ़ आदि गालियाँ भी दी गईं—

> इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढ़ाः।
> नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमम् लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥[31]

फलतः नित्य - नैमित्तिक कर्मों के साथ ही साथ काम्य कर्म को प्रधानता देने वाले इष्टापूर्त या प्रवृत्ति के मार्ग ने आत्मरक्षा के लिये काम्य कर्मों को तिलांजलि दे, नित्य-नैमित्तिक कर्मों में ही आत्मसंकोच कर लिया। वास्तव में यह वाद ('थीसिस') और प्रतिवाद ('ऐंटी-थीसिस') का अंतरालवर्ती संवाद ('सिंथिसिस') का मार्ग था, जो ईशोपनिषत् के दूसरे मंत्र में व्यक्त हुआ है —

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
> एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

किंतु बिना ज्ञान के मुक्ति को न स्वीकार करनेवाले उपनिषद्ग्रंथों में इस परिष्कृत प्रवृत्ति-मार्ग से एक ओर मुक्ति या परमगति संदिग्ध है और दूसरी ओर 'कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे' इस निर्देश की व्याप्ति पुनरावृत्त्यात्मक प्रवृत्ति में भी संशयित है। इसलिये ऐसे स्थलों पर प्रवृत्ति के विषय में तिलक जी की यह धारणा कि प्रवृत्तिमार्गी व्यक्ति संन्यास न लेकर मरण पर्यंत चातुर्वर्ण्य-विहित निष्काम कर्म करता रहे,[32] सर्वथा संगत होती है। निष्काम कर्मयोग के प्रधान एवं प्राचीनतम गीताग्रंथ में इसी पक्ष का विपुल विस्तार किया गया है।[33]

---

३१—मंडूकोपनिषत्, १।२।१०

३२—गीता-रहस्य, पृ० सं० ९

३३—द्रष्टव्य, 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर रिलिजस सिस्टम्स', १९२९, पृ० सं० ३७

साथ ही उसमें यह भी स्पष्ट कह दिया गया है कि इसी मार्ग से जनक आदि को संसिद्धि अर्थात् परमगति प्राप्त हुई थी।[३४] यही इस ग्रंथ की 'अपूर्वता' है। किंतु यह भ्रम न होना चाहिए कि उसमें निवृत्ति - मार्ग का सर्वथा बहिष्कार कर दिया गया है। जिस गीताग्रंथ में महान् नारायणीय धर्म का विवेचन हो[३५] उसमें नारायणीय धर्म का एक विशिष्ट पक्ष निवृत्ति - मार्ग छूट जाय, यह कैसे संभव है ? हम पूर्व ही बता आए हैं कि नैष्कर्म्य पर विशेष आग्रह होने के कारण निवृत्ति-पक्ष की अपेक्षित प्रधानता भले ही विहत हो गई हो, पर गीता में यह पक्ष भी निरूपित हुआ है।[३६] नारायणीयोपाख्यान का साक्ष्य भी है—

यतीनां चापि यो धर्मः स ते पूर्वं नृपोत्तम।
कथितो हरिगीतासु समासविधिकल्पितः॥[३७]

इस श्लोक के विषय में तिलक जी का कहना है कि "उपर्युक्त वचनों से महाभारतकार का यही अभिप्राय जान पड़ता है कि गीता में अर्जुन को जो उपदेश दिया गया है वह विशेष करके मनु-इक्ष्वाकु इत्यादि परंपरा से चले हुए, प्रवृत्ति-विषयक भागवत धर्म ही का है; और उसमें निवृत्ति-विषयक यति-धर्म का जो निरूपण पाया जाता है वह केवल आनुषंगिक है।"[३८] यहाँ हमें 'केवल आनुषंगिक' मार्ग के विषय में कुछ कहना है। नारायणीय धर्म की पूर्व पुस्तक गीता में निवृत्ति-मार्ग या यति-धर्म का आनुषंगिक वर्णन, नारायणीय धर्म के एकदेश के रूप में ही अधिक समंजस होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि भागवत धर्म आरंभ से ही प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयरूप था। पुनरावृत्ति स्वरूप प्रवृत्ति-मार्ग था और परमगति स्वरूप निवृत्ति-मार्ग। यह प्रवृत्ति-मार्ग वैदिक युग के इष्टापूर्त वाले सकाम कर्म-मार्ग के समान था। इसी प्रकार निवृत्ति-मार्ग भी दोनों स्थानों पर एकरूप था। किंतु जैसे वेदों का सकाम-कर्म-मार्ग क्रमशः निष्काम भावना से भावित होता हुआ

---

३४—कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः॥ ( ३।२० क )

३५—महा०, १२।३४६।११

३६—गीता, ३।१७-१९

३७—महा०, १२।३४८।५३

३८—गीता-रहस्य, पृ० सं० १०

गीता में आकर मुक्ति का अन्यतर साधन स्वीकृत हुआ, वैसे ही नारायणीय धर्म का पुनरावृत्यात्मक प्रवृत्ति-मार्ग भी काम्य-कर्दम से विशुद्ध होकर निष्काम कर्मयोग के नाम से गीता में परमगति का प्रेरक बन गया।

पुनरावृत्यात्मक प्रवृत्ति और परमगति-स्वरूप निवृत्ति की कल्पना श्रीमद्भागवत में भी मिलती है। पुरंजनोपाख्यान में रूपक-रहस्य का विशद विवेचन उपस्थित करते हुए अविज्ञात सखा ने अपने भ्रांत मित्र-पूर्व जन्म के पुरंजन और द्वितीय जन्म की वीर्यपणा वैदर्भी को बताया है कि—

पितृहूर्दक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहू स्मृतः ॥
प्रवृत्तं च निवृत्तं च शास्त्रं पंचालसंज्ञितः ।
पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्व्रजेत् ॥[३९]

अर्थात् इस शरीररूपी नगर में दक्षिण पंचाल और उत्तर पंचाल नामक दो राष्ट्र या उपनगर हैं। 'पंचाला पंचविषयाः' के अनुसार पंचज्ञानेंद्रियों के पाँचों विषयों का नाम ही पंचाल है। परंतु इन पाँचों विषयों की जानकारी अन्य किसी प्रकार से न होने के कारण इनके प्रतिपादक शास्त्रों की संज्ञा भी पंचाल है। चूँकि सुनने की शक्ति बाएँ कान से दाहिने कान में अधिक मानी जाती है, अतः श्रवण-कार्य में दक्षिण कर्ण पहले बढ़ता है। और शास्त्रों में पहले कर्मकांड का श्रवण विहित है, अतः प्रवृत्त-संज्ञक कर्मकांड का श्रवण दक्षिण कर्ण से किया गया है। यतः कर्मकांड के प्रेरक पितृगण होते हैं इसीलिये इसका अभिधान 'पितृहू' है और इसका फल, शरीर छोड़ने के अनंतर पितृयान से पितृलोक का गमन है, जहाँ से पुनः प्रत्यावर्तन होता है। इसके ठीक विपरीत दक्षिण कर्ण देवहू कहा जाता है और इसके परिणाम-स्वरूप शरीर-परित्याग के पश्चात् उस लोक की संप्राप्ति होती है जहाँ से फिर वापस नहीं आना पड़ता।

भागवतपुराण में नारायणीयोपाख्यान के अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति-कल्पनाओं की स्वीकृति के साथ ही इनकी परंपराएँ भी यत्किंचित्परिवर्तन के साथ मान्य हैं। नारायणीयोपाख्यान में ब्रह्मा के सात मानसपुत्र निवृत्ति-मार्ग के उद्भावक माने गए हैं। भागवत में उनमें से तीन सन, सनत्सुजात और कपिल को छोड़कर शेष चार—सनक, सनंदन सनातन, और सनत्कुमार—को ऊर्ध्वरेता और निष्क्रिय मुनी-

३९—भागवत, ४।२९।१२ख-१३

श्वर कहा गया है। ये मोक्ष-धर्म को धारण करनेवाले एवं वासुदेवपरायण थे। इसी से उन्होंने 'हे पुत्रो, पुत्रोत्पादन में प्रवृत्त हो'—यह स्वयंभू की आज्ञा टाल दी।[४०]

नारायणीयोपाख्यान की प्रवृत्ति-परंपरा में मरीचि आदि सात ऋषि इस मार्ग के मूल प्रवर्तक माने गए हैं। भागवत में भृगु, दक्ष और नारद का नाम इस परंपरा में और सम्मिलित कर दिया गया है। फलतः उनकी संख्या दस दी गई है। भागवत की इस परंपरा में ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि इसमें केवल मरीचि ब्रह्मा के मानसपुत्र बताए गए हैं और शेष की उत्पत्ति उनके विभिन्न अवयवों से दिखाई गई है।[४१]

जैसे वैदिक धर्म में प्रारंभिक सकाम कर्मयोग की परंपरा की चरम परिणति कालांतर में निष्काम कर्मयोग के रूप में हुई थी वैसे ही भागवत धर्म में प्रारंभ से ही प्रवृत्ति-निवृत्ति उभय मार्ग की अंतिम चरितार्थता परम पुरुष परमात्मा की प्राप्ति में मानी गई है। नारायणीयोपाख्यान की 'यतोऽहम्' इत्यादि[४२] पंक्तियों को 'त्रैकालिकम्' आदि[४३] वाक्यों के साहचर्य में देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि

---

४०—सनकं च सनन्दं च सनातनमथात्मभूः।
सनत्कुमारं च मुनीन्निष्क्रियानूर्ध्वरेतसः ॥
तान्बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः।
तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥ (भाग० ३।१२।४–५)

४१—मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥
उत्संगान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयंभुवः।
प्राणाद्वसिष्ठः संजातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः ॥
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोऋषिः।
अंगिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥(भाग० ३।१२।२३-२४)

४२—यतोऽहं प्रसृतः पूर्वमव्यक्तात्त्रिगुणो महान्।
तस्मात्परतरो योऽसौ क्षेत्रज्ञ इति कल्पितः ॥
सोऽहं क्रियावतां मार्गः पुनरावृत्तिदुर्लभः। (महा० १२।३४०।७५-७६ क)

४३—त्रैकालिकमिदं ज्ञानं प्रादुर्भूतं यथेप्सितम्।
तच्छृणुध्वं यथान्यायं वक्ष्ये संशयमुत्तमम् ॥

भागवत धर्म के दोनों मार्गों से परम पुरुष की प्राप्ति ही अभीष्ट मानी जाती थी। श्रीमद्भागवत में यह उद्देश्य डिंडिम-घोष के साथ उद्घोषित किया गया है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥[४४]

अर्थात् चाहे निरंजन ज्ञान—निवृत्ति-मार्ग—से साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर की अपरोक्षानुभूति हो अथवा निष्काम कर्मयोग—प्रवृत्ति का परिष्कृत पथ—ही क्यों न हो, यदि वह अच्युत-भाव-वर्जित है तो वह भली भाँति शोभित नहीं हो सकता; फिर सकाम कर्मयोग— अपरिष्कृत प्रवृत्ति-मार्ग का—कहना ही क्या, जो साधना-समय एवं परिणाम-काल के दोनों अवसरों पर अत्यंत कष्टकारक होता है। अतः अकाम्य सकाम कर्म भी यदि ईश्वर के चरणांबुजों में समर्पित न हुआ तो फिर उसे शोभन कैसे कहा जा सकेगा? इस प्रकार श्रीमद्भागवत में अच्युत-भाव-युक्तता में ही प्रवृत्ति या निवृत्ति की प्रशस्तता है; उसके अभाव में न प्रवृत्ति वरेण्य हो सकती है और न निवृत्ति। इसी से भागवत में केवल 'परमहंसों' की वैसी प्रतिष्ठा नहीं है जैसी 'भागवत परमहंसों' की। हिंदी साहित्य में महात्मा तुलसीदास आदि सगुणमार्गी कवियों की रचनाओं में यही भावना प्रमुख रूप से अभिव्यक्त हुई है। अस्तु।

भागवत धर्म के दो प्रधान स्कंध माने गए हैं—वैखानस, और पांचरात्र। अभी तक भागवत धर्म के जिन ग्रंथों के आधार पर प्रवृत्ति-निवृत्ति का स्वरूप निरूपित किया गया है वे सामान्य रूप से पांचरात्र शाखा के माने जाते हैं। अंतरंग प्रमाणों के आधार पर नारायणीयोपाख्यान में पांचरात्र धर्म का ही निरूपण सिद्ध है। भागवत भी व्यूहवाद का बहुत समर्थक होने के कारण पांचरात्रिकों का ही ग्रंथ मालूम पड़ता है। यद्यपि गीता में एक व्यूह-विभाग की गवेषणा से[४५] गीता को भी पांचरात्रिकों का सांप्रदायिक ग्रंथ कहा जा सकता है, तथापि इसके

---

यथावृत्तं हि कल्पादौ दृष्टं मे ज्ञानचक्षुषा।
परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविदो जनाः॥
महापुरुषसंज्ञां स लभते स्वेन कर्मणा।
तस्मात्प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तं विदुर्बुधाः॥

४४—भाग०, १।५।१२

४५—द्रष्टव्य शांडिल्य-संहिता का प्रास्ताविक, लेखक अनंत शास्त्री फड़के।

अतिरिक्त अन्य दूसरे कारण नहीं दिखाई पड़ते। अस्तु, अब वैखानसों के अनुसार प्रवृत्ति-निवृत्ति का स्वरूप समझना चाहिए।

विखनस-प्रोक्त वैखानस धर्म-प्रश्न में वर्णाश्रम-विभाग के भेदोपभेद दिखाते हुए दो प्रकार के आश्रम-फलों की चर्चा की गई है—सकाम और निष्काम। इनमें से निष्काम आश्रम-फल को प्रवृत्ति और निवृत्ति के भेद से दो प्रकार का माना गया है।[४६]

प्रवृत्त्यात्मक आश्रमफल तुच्छ सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है। आचार्य के मतानुसार कुछ विशेष प्रकार की साधनाओं से अणिमादि ऐश्वर्य की प्राप्ति का ही नाम प्रवृत्ति है। साधना - पक्ष में साधक को सांख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति-पुरुष का विवेक उपार्जित करके संसार को तिरस्कृत कर देना आवश्यक है। साथ ही योग के आठ अंगों में से आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा से युक्त होकर पंचप्राणों को वश में कर लेना आवश्यक है। इसके परिणाम-स्वरूप ही सिद्धियों की संप्राप्ति होती है। परंतु इस मार्ग से कोई साधक परमर्षि की पदवी नहीं प्राप्त कर सकता। इसकी साधना में नाना प्रकार की व्याधियों का सामना करना पड़ता है और साथ ही तपस्या के क्षीण हो जाने पर जन्म-मरण के भयंकर चक्कर में फिर फँसना पड़ता है।[४७]

निवृत्त्यात्मक आश्रमफल मोक्ष - स्वरूप ही है। इसमें साधक जागतिक क्षणभंगुरता के अनुभव के साथ ही साथ एकमेवाद्वितीय परमात्मा की भावना से भावित होता हुआ संसार का परित्याग करता है। स्त्री-रूप पाश से अपने को मुक्त करके वह इंद्रिय-जय में प्रवृत्त होता है। त्रिगुणात्मक शरीर से ऊपर उठकर वह जीवात्मा और परमात्मा की अभेदात्मकता का अनुभव करता है। परमात्मा परम-ज्योतिस्वरूप, इंद्रियातीत, समस्त स्थावर-जंगम जगत का मूल कारण, संपूर्ण ज्ञान-

---

४६—(आश्रमफलं) द्वि सकामं निष्कामं चेति। तत्र निष्कामं द्विविधं भवति प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्चेति। (वैखानस धर्म-प्रश्न १।१०)

४७—प्रवृत्तिर्नाम संसारमनादृत्य सांख्यज्ञानं समाश्रित्य, प्राणायामासनप्रत्याहारधारणायुक्तो वायुजयं कृत्वाणिमाद्यैश्वर्यप्रापणम्। तत्पुनरपि तपःक्षयजन्मप्रापकत्वाद् व्याधिबाहुल्याच्च न तैः परमर्षयो भवंति। (वैखानस धर्म०, १।१०)

वैराग्यादि विशेष गुणों से परिपूर्ण, नित्यानंदघनस्वरूप, अमृत-रस-पान की भाँति अमर तृप्ति प्रदान करनेवाला है।[४८]

इस प्रकार वैखानस धर्म में भी प्रवृत्ति-निवृत्ति का दोनों पक्ष समान रूप से स्वीकृत है। सारे विवेचन से साफ़ दिखाई पड़ता है कि प्रवृत्ति के संबंध में विभिन्न संप्रदायों की धारणा में थोड़ा-बहुत परिवर्तन मिलता है। पर निवृत्ति-विषयक धारणा सर्वत्र एक सी है। इसलिये भागवत धर्म को केवल प्रवृत्तिमार्गी मानना—अंशतः सत्य है। प्रवृत्ति-मार्ग का महत्व उसमें अवश्य है। कभी-कभी उसकी प्रधानता भी दिखाई देती है। किंतु निवृत्ति-मार्ग का संबंध भी भागवत धर्म से सर्वत्र दिखाई पड़ता है। जिन सांप्रदायिक ग्रंथों में प्रवृत्ति का ही विशेष प्रस्तार है उनमें भी निवृत्ति का सर्वथा त्याग नहीं मिलता। अतः भागवत धर्म, आरंभिक भागवत धर्म, प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयरूपात्मक था।

---

४८—निवृत्तिर्नाम लोकानामनित्यत्वं ज्ञात्वा परमात्मनोऽन्यन्न किंचिदस्ति इति संसारमनाहृत्य छित्वा मायामयं पाशं जितेन्द्रियो भूत्वा शरीरं विहाय क्षेत्रज्ञ परमात्मनोऽयं ज्ञात्वा यदतींद्रियं सर्वजगद्बीजमशेषविशेषं नित्यानंदममृतरसपानवत् सर्वदा तृप्तिकरं परं ज्योतिस्तत्प्रवेशकमिति विज्ञायते। (वैखानस धर्म १।१०।१५)

# दुःख-मीमांसा

[ श्री मंगलदेव शास्त्री ]

## दुःख के स्वरूप पर विचार

हमारे देश की विचारधारा में इधर चिरकाल से दुःख-विषयक विचारों और तन्मूलक विभीषिका ने एक ऐसा वातावरण बना रखा है जो वैयक्तिक तथा जातीय दोनों दृष्टियों से हमारे लिये प्रायेण घातक सिद्ध हुआ है। 'संसार दुःखमय है, अत-एव असार और हेय है', 'जीवन दुःख-रूप है, अतएव बंध ( = कारागार ) है, उससे किसी प्रकार छुटकारा ( मोक्ष ) पाना ही हमारे जीवन का परम ध्येय है,'[1] 'दुःख सब को ही प्रतिकूल और बाधा के रूप में प्रतीत होता है',[2] 'विवेकी मनुष्य को सब कुछ दुःखरूप में ही देखना चाहिए'[3]—इस प्रकार के विषाक्त अनार्य विचारों ने जहाँ एक ओर हमारे जीवन को नीरस, मंद, उत्साह-हीन, नैराश्यपूर्ण और अकर्मण्य बनाने में बड़ा भाग लिया है, वहाँ दूसरी ओर हमारे करोड़ों भाइयों में जीवन-संघर्ष से मुँह छिपाकर, प्रायः अपरिपक्व दशा में ही, संन्यास की मिथ्या-प्रवृत्ति को बराबर प्रोत्साहित किया है।

दुःख के विषय में उपर्युक्त विचार से यदि कोई आगे बढ़े हैं तो उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि कर्मयोगी को सुख-दुःख को समान समझकर ही जीवन के युद्ध में प्रवृत्त होना चाहिए।[4]

परंतु प्रस्तुत प्रकरण में दुःख के स्वरूप के विषय में हम एक नितरां नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित कर रहे हैं।[5] हमारे परिज्ञान में यह विचार भारतीय

---

१—तु० "अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" ( सांख्यसूत्र १।१ )।

२—तु० "बाधनालक्षणं दुःखम्", "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः"

( न्यायसूत्र १।१।२१-२२ )।

३—तु० "दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" ( योगसूत्र २।१५ )।

४—तु० "सुखदुःखे समे कृत्वा...ततो युद्धाय युज्यस्व" ( भगवद्गीता २।३८ )।

५—इस विषय के विशेष विचार के लिये 'कल्पना' ( जनवरी १९५४ ) में प्रकाशित हमारा 'भारतीय संस्कृति में वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका" शीर्षक लेख देखिए।

वाङ्मय में कहीं देखने में नहीं आए हैं। दुःखों से उद्विग्न मानव को उनसे एक नया ही प्रकाश मिलेगा, ऐसी हमारी धारणा है।

नीचे के पद्यों में दुःख के विषय में युक्ति और उपपत्ति के साथ जो सिद्धांत हमने उपस्थित किए हैं वे संक्षेप में मुख्यतः इस प्रकार हैं—

(१) दुःख की प्राप्ति आकस्मिक या अहेतुक नहीं होती।

(२) सृष्टि की योजना में दुःख की प्राप्ति निष्प्रयोजन नहीं हो सकती।

(३) दुःख से लगनेवाले भय के मूल में हमारा अज्ञान ही कारण होता है। महान् पुरुष तो दुःख और कष्टों का स्वागत ही करते हैं।

(४) दुःखों को कार्यसिद्धि की आवश्यक भूमिका समझना चाहिए।

(५) स्वेच्छा से स्वीकृत दुःख तप के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। तप से ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

(६) मनुष्य की समुन्नति में दुःख केवल सीढ़ियों के समान होते हैं।

यहाँ इस लेख को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। नीचे हम पद्यों का केवल स्पष्टार्थ देते हैं—

उद्वेगजनकं दुःखं सर्वेषामेव प्राणिनाम्।
सेयमापाततो बुद्धिस् तत्त्वदृष्ट्या विविच्यते ॥१॥

इस संसार में दुःख से सब कोई घबड़ाते हैं; दुःख को उद्वेग-जनक समझते हैं। दुःख के विषय में यह जो आपाततः विचार है उसका यहाँ हम तात्त्विक दृष्टि से विवेचन करेंगे।

न चैवाकस्मिकं दुःखं न चाप्यस्त्यप्रयोजनम्।
न चैवावश्यकं, दुःखं दुःखमित्येव मन्यताम् ॥२॥

दुःख के विषय में विचार करने पर, न तो हम उसको आकस्मिक अथवा अहेतुक कह सकते हैं, न निष्प्रयोजन। दुःख को दुःख के रूप में ही अनुभव किया जाय, यह भी आवश्यक नहीं है।

दुःख आकस्मिक नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं—

कार्यकारणसूत्रेण सूत्रधारेण केनचित्।
चाल्यमाने जगत्यस्मिन् कथं दुःखमहेतुकम्? ॥३॥

इस जगत् या विश्व के सूत्रधार या नियामक परमात्मा कार्य और कारण के सूत्र अर्थात् नियम द्वारा सारे जगत् का संचालन कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में किसी

के ऊपर आनेवाला दुःख अहेतुक है, अर्थात् उसका कोई हेतु नहीं है, ऐसा कैसे हो सकता है ?

दुःख निष्प्रयोजन भी नहीं हो सकता, इसका समर्थन नीचे करते हैं—

गर्भावस्थां समारभ्य या यावस्थानुभूयते।
प्राणिना, तद्धिताथैव स्पष्टं तस्याः प्रयोजनम् ॥ ४ ॥

जब से प्राणी गर्भावस्था में आता है, उसे बराबर नई-नई दशाओं का अनुभव करना पड़ता है। शास्त्रों में उनका प्रायः भयानक दुःखमय अवस्थाओं के रूप में वर्णन मिलता है। उन दशाओं को हम दुःखमय मानें या न मानें, इतना तो स्पष्ट है कि उनका प्रभाव प्राणी के लिये हितकर ही होता है।

अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था के समान प्रत्येक दुःखावस्था मनुष्य के हित के लिये ही होती है। गर्भावस्था के अनुभव के पश्चात् ही राम, कृष्ण, बुद्ध और गांधी जैसे अवतारी पुरुष बनते हैं।

एवं स्थावरलोकेऽपि वृक्षादीनां समुद्भवे।
नानावस्थास्तु बीजस्य जायन्ते सप्रयोजनाः ॥ ५ ॥

इसी प्रकार स्थावर जगत् में भी वृक्ष आदि की उत्पत्ति में बोने के पश्चात् बीज की जो सड़ने-गलने आदि की अनेक अवस्थाएँ होती हैं वे सब सप्रयोजन होती हैं। बीज बोए जाने के पीछे पहले गलता है, फिर सड़ता है। तब कहीं वह अंकुर के रूप में उगता है और अंत में आम, अनार, अंगूर जैसे उपयोगी और सुंदर वृक्षों के रूप में आता है। इस प्रकार आपाततः दुःख की अवस्थाओं को भी जानना चाहिए। दुःखावस्था से हमारा अंत में हित ही होगा, यही समझना चाहिए।

तथैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति या मता।
सप्रयोजनता तस्या नूनं नैवात्र संशयः ॥ ६ ॥

इसलिये संसार में जिसको दुःख की अवस्था माना जाता है उसका ईश्वर की दृष्टि में कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है, यही मानना चाहिए।

सहेतुकत्वमित्येवं सप्रयोजनतां तथा।
दुःखस्यावेत्य तत्त्वज्ञो न ततो विजुगुप्सते ॥ ७ ॥

इस प्रकार दुःख की सहेतुकता और सप्रयोजनता को समझकर, अर्थात् यह मन में बैठाकर कि ईश्वर की सृष्टि में जो कोई दुःख आता है उसका कोई कारण और प्रयोजन भी अवश्य होता है, तत्त्वज्ञानी मनुष्य दुःखों से कभी नहीं घबराता।

अन्धकारगतः कश्चिद् यथाकस्माद् भयातुरः ।
भवेत्तथैव दुःखेभ्यो मन्दानां जायते भयम् ॥ ८ ॥

जैसे अँधेरे में खड़ा हुआ मनुष्य वास्तविक स्थिति को नहीं समझता और 'न जाने कहाँ से क्या आपत्ति आ जाय' यह सोचकर भय से व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी लोग दुःख के कारण और प्रयोजन को न समझते हुए उससे डरते रहते हैं ।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः ।
दुःखानां स्वागतं कुर्वंस् तत्त्वज्ञो नावसीदति ॥ ९ ॥

पर तत्त्वज्ञानी मनुष्य, जो अपने जीवन में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट उन्नति के लिये उत्सुक रहता है, दुःखों का स्वागत करता हुआ उनसे विषाद को नहीं प्राप्त होता ।

यथा छात्रस्य कस्यापि तापसस्य धनार्थिनः ।
कष्टानां महतामङ्गीकारो इष्टः फलार्थिनः ॥ १० ॥

जैसे अपने-अपने अभीष्ट लक्ष्य ( क्रम से विद्या, आध्यात्मिक सिद्धि और संपत्ति ) की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करनेवाला एक विद्यार्थी, तपस्वी या धनार्थी प्रसन्नता से बड़े-बड़े कष्टों को सहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ दुःखों और कष्टों को सहर्ष स्वीकार करता है ।

विधातुः सर्वलोकस्याभिप्रायोऽप्येष दृश्यते ।
यत्कार्यसिद्धितः पूर्वं कष्टस्वीकरणं मतम् ॥ ११ ॥

समस्त संसार की सृष्टि करनेवाले प्रजापति का अभिप्राय भी यही दीखता है कि किसी भी कार्य की सिद्धि से पहले कष्ट या दुःख को उठाना ही चाहिए । दूसरे शब्दों में, भगवान् की रची हुई इस सृष्टि में सबके लिये यह स्वाभाविक है कि अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये कष्ट या दुःख को उठाया जाय ।

अत एव सिसृक्षुः सन् लोकानेतान् प्रजापतिः ।
"तपोऽतप्यत", नैकत्र श्रूयते ब्राह्मणादिषु[६] ॥ १२ ॥

इसलिये शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रंथों में जहाँ-कहीं 'प्रजापति ने इन लोकों की सृष्टि करने की इच्छा की', इस बात का प्रसंग आया है वहाँ 'प्रजापति ने तप किया' ऐसा कहा गया है ।

---

६—तु० "सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत । भूयान् स्यां प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत् । स तपोऽतप्यत ।······" ( शतपथ ब्राह्मण ६।१।१।८ ) ।

अभिप्राय यह है कि औरों की तो बात ही क्या, प्रजापति या ब्रह्मा को भी सृष्टि की रचना से पहले तप करना पड़ता है।

स्वेच्छा से स्वीकार किए गए दुःख या कष्ट को ही तप कहते हैं, यह नीचे कहा गया है—

शिवस्य नीलकण्ठस्य विषपानं यदुच्यते।
व्याख्यानमस्य तेनापि सिद्धांतस्य विधीयते॥ १३॥

पुराणों में भगवान् नीलकंठ शिव की विष-पान की कथा प्रसिद्ध है। वास्तव में उस कथा से उक्त सिद्धांत की ही व्याख्या की गई है। संसार में कौन स्वेच्छया विष-पान करने को तैयार होगा? फिर भी लोक-कल्याण की इच्छा से शिव जी ने प्रसन्नतापूर्वक भयंकर विष का पान किया। इसलिये अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिये प्रसन्नता-पूर्वक कष्ट को स्वीकार करना चाहिए।

रामस्य तस्य भीष्मस्य बुद्धस्यापि महात्मनः।
क्राइस्टस्य जिनस्यापि गान्धिनश्च महात्मनः॥ १४॥
जीवनेषु तथान्येषां लोकोत्तरयशस्विनाम्।
स्वेच्छयैव सुखं त्यक्त्वा कष्टस्वीकरणं मतम्॥ १५॥

उक्त कारण से ही भगवान् राम, सुप्रसिद्ध भीष्म पितामह, महात्मा बुद्ध, महात्मा क्राइस्ट, भगवान् महावीर, महात्मा गांधी तथा अन्य लोकोत्तर यशवाले महापुरुषों के जीवन में देखा जाता है कि उन्होंने महान् आदर्शों के पालन के लिये स्वेच्छा से सुखों को छोड़कर कष्टों को स्वीकार किया।

आपेक्षिकी मता तस्माद् भावना सुखदुःखयोः।
नैकान्तिकं तयो रूपमित्येवमवधार्यताम्॥१६॥

इसलिये सुख और दुःख की भावना को आपेक्षिक ही मानना चाहिए। उनमें से किसी का अपना कोई निश्चित या ऐकांतिक रूप नहीं है।

दुःखं वै दुःखरूपेण तावदेव प्रतीयते।
यावत्परिग्रहस्तस्यानिच्छयैव विधीयते॥१७॥

दुःख दुःखरूप से तभी तक प्रतीत होता है जब तक कि उसका ग्रहण अनिच्छा से ही किया जाता है।

दुःखं चेत्स्वेच्छया प्राज्ञः प्रसन्नेनान्तरात्मना।
आदत्ते, तत्तपोरूपमाधत्ते, नात्र संशयः॥१८॥

यदि बुद्धिमान् मनुष्य आए हुए दुःख को स्वेच्छा-पूर्वक प्रसन्न मन से स्वीकार कर लेता है तो वही दुःख उसके लिये निःसंदेह तप का रूप धारण कर लेता है।

आशय यह है कि मनुष्य को चाहिए कि वह सहसा आए हुए दुःख को अपनी उन्नति की प्राप्ति में सहायक तप मानकर प्रसन्नता से सहे। इस प्रकार यह दुःख उसके लिये कल्याण का ही साधक हो सकता है।

नूनं तपांसि कृच्छ्राणि शास्त्रोक्तानि विधानतः।
आचरन्त्यात्मनः शुद्धयै श्रद्धया ये मनीषिणः॥ १९॥

यह कौन नहीं जानता कि शास्त्रों में अनेकानेक कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत आदि तपों का विधान किया गया है। जो बुद्धिमान् हैं वे आत्म-शुद्धि के लिये उन तपों का श्रद्धा से विधि-पूर्वक पालन करते हैं।

तपसा पारमाप्नोति तपसा हन्ति किल्विषम्।
लोकेऽत्र तपसा धीर उन्नतेर्मूर्ध्नि तिष्ठति॥२०॥

तप की महिमा महान् है। तप द्वारा ही मनुष्य अपने अभीष्ट पद को प्राप्त करता है और पाप या अपूर्णता को दूर कर अपने चरित्र को उज्ज्वल और पवित्र बनाता है। धीर पुरुष संसार में तप द्वारा ही उन्नति के शिखर पर विराजमान होता है।

ततोऽनिवार्यदुःखं यत् प्राप्तं भवति जीवने।
तप इत्येव तद्विद्याद् य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः॥२१॥

इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है उसे चाहिए कि जीवन में जो कोई अनिवार्य दुःख प्राप्त हो उसे वह अपनी अभीष्ट-सिद्धि का साधक तप ही समझे और माने।

हिरण्यस्य यथा शुद्धिरग्नितापेन जायते।
तथैव दुःखतप्तानां जायते कल्मषक्षयः॥ २२॥

जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण की शुद्धि हो जाती है, उसी प्रकार दुःख-रूपी तप से तपे हुओं के कल्मष या पाप का नाश हो जाता है।

रम्यं प्रासादमारोहन्नत्युच्चशिखरस्थितम्।
कष्टानि सहते धीरः प्रसन्नो लक्ष्यसिद्धये॥ २३॥

किसी पर्वत के अति ऊँचे शिखर पर बने हुए रमणीय प्रासाद तक पहुँचने के निमित्त ऊपर चढ़नेवाला धीर मनुष्य अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रसन्नता-पूर्वक कष्टों को सहता है।

उत्तरोत्तरमुत्कृष्टप्रगतावुत्सुकस्तु यः ।
एवं वेदोक्तमार्गेण दुःखादुद्विजते न सः[७] ॥ २४ ॥

इसी प्रकार 'तुम उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त करो'[८] इस वैदिक उपदेश के अनुसार जो मनुष्य अपनी उत्तरोत्तर उत्कृष्ट समुन्नति के लिये उत्सुक है वह दुःख से कभी नहीं घबराता।

देवाधिदेवतत्त्वेन करुणाप्लुतचेतसा ।
नूनं सृष्टं जगत्कृत्स्नं भूतानामुद्दिधीर्षया[९] ॥ २५ ॥

इसमें संदेह नहीं कि उस परमतत्त्व परमात्मा ने, जो देवताओं का भी अधिष्ठातृ-देवता है, करुणा-वश होकर प्राणियों के उद्धार की इच्छा से ही समस्त जगत् की सृष्टि की है।

तत्रैवं सति लोकेऽस्मिन् दुःखावस्थेति योच्यते ।
नूनं सास्मद्धितायैव नोद्वेगाय मनीषिणः ॥ २६ ॥

सृष्टि के विषय में उपर्युक्त वस्तुस्थिति के होने से, लोक में जिसको दुःखावस्था कहा जाता है वह निश्चय ही हमारे कल्याण के लिये ही होती है, ऐसा मानना चाहिए। समझदार लोग उससे उद्विग्न नहीं होते।

कदाचिदेतदेवात्र कारणं येन, विस्मयः ! ॥
कुत्रापि वेदमन्त्रेषु दुःखशब्दो न दृश्यते ॥ २७ ॥

दुःख के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है, कदाचित् उसी कारण से, यह आश्चर्य की बात है कि, वैदिक संहिताओं के मंत्रों में कहीं भी 'दुःख' शब्द नहीं पाया जाता।

---

७—तु० "आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः ।
प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम् ॥" (वाल्मीकि रामायण ३।९।३१)।

८—तु० "भद्रादभि श्रेयः प्रेहि" (ऐतरेय ब्राह्मण १।१३)
(अर्थात्, तुम भद्र से भद्रतर जीवन को प्राप्त करो)।

९—तु० "भद्रा इन्द्रस्य रातयः" (साम० उ० ५।२।१४)
(अर्थात्, भगवान् के प्रदान कल्याणमय हैं)।

# राष्ट्रभाषा संबंधी कतिपय विचार

[ श्री गुरुसेवक उपाध्याय ]

**राष्ट्र-संघटन**—किसी राष्ट्र के संघटन के लिये दो बातें आवश्यक होती हैं—भौगोलिक एकता और समान संस्कृति। उसके लिये धर्म अथवा जाति का एक होना जरूरी नहीं है। ब्रिटिश नेशन (अंगरेजी राष्ट्र) भिन्न-भिन्न जातियों और धर्मावलंबियों से संघटित है। जब कोई इंगलैंड में रहनेवाला अंगरेज हिंदू या मुसलमान हो जाता है तब उसकी संस्कृति नहीं बदल जाती। हिंदुस्थान, ईरान, अरब, तुर्की आदि देशों के मुसलमान यद्यपि एक ही धर्म के अनुयायी हैं फिर भी उनकी संस्कृति, देशानुसार, असमान है। हमारे देश की संस्कृति भारतीय संस्कृति है—इस देश में जितनी जातियों का वैदिक काल से लेकर आज तक सम्मिलन हुआ उनकी संस्कृतियों का यह समन्वित रूप है। महात्मा गांधी समन्वय शक्ति की ज्वलंत प्रतिमा थे, अतः वे दुराग्रहियों के अतिरिक्त सभी हिंदुस्थानियों के आराध्य देव हुए। आशा है उनका स्थापित राष्ट्र भी सदा सर्व-पूज्य होगा, और राष्ट्रीय आत्म-चेतना इस समय की भाँति सदा जागरित रहेगी। उसको दृढ़ बनाने के साधनों में राष्ट्रभाषा भी एक साधन है। लक्ष्य राष्ट्रीय एकता है।

**राष्ट्रभाषा प्रचार**—हिंदी राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है। वह, हिंदीवालों के कारण ही नहीं बल्कि अहिंदी क्षेत्रों के जन-प्रतिनिधियों की इच्छा के कारण, राष्ट्रभाषा बन सकी। इसका विकास कुछ हद तक उन्हीं हिंदीतर क्षेत्रों की देन और सहयोग पर निर्भर है। हिंदी-प्रेमियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनकी ओर से कोई ऐसा काम न हो जिससे उन क्षेत्रों में भ्रम फैले और वहाँ की जनता यह समझे कि हिंदी उसपर लादी जाती है। हमारा देश सैकड़ों वर्ष से पराधीन था। विदेशी शासकों की, विशेष कर अंगरेजों की, "विभाजन" की नीति ने भारतीयता के स्थान पर प्रांतीयता का भाव जगाया। पराधीनता ने हम लोगों में अपने ऊपर अश्रद्धा भी बढ़ाई। उसके फलस्वरूप आज भी हम भारतीय एक दूसरे से सशंक, सभय रहते हैं। इसलिये अहिंदी क्षेत्रों में हिंदी का प्रचार करने में हमको

बहुत सावधानी से काम लेना चाहिए। इस प्रचार में समाचारपत्र अत्यंत सहायक हो सकते हैं।

**केंद्र में हिंदी-मंत्रालय आयोजन**—केंद्रीय सरकार हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित करके बिलकुल चुप नहीं बैठ गई है, उसने संसदीय हिंदी-परिषद् की स्थापना की जिसके तत्त्वावधान में एक त्रैमासिक पत्र "देवनागर" भी निकलता है। फिर भी, हिंदी-प्रचार का काम आगे बढ़ाने के लिये जितनी उससे आशा की जाती थी उतनी युक्तियों को उसने नहीं अपनाया है, इसलिये १५ वर्ष में हिंदी अँगरेजी का स्थान ले सके यह कठिन प्रतीत होता है। यह सच है कि हिंदी को समृद्ध करने का मुख्य काम साहित्यिकों का है, पर सरकारी दफ्तरों से अंगरेजी को हटाकर हिंदी को वहाँ प्रतिष्ठित करने का काम केंद्रीय सरकार ही कर सकती है। इस काम के लिये एक विशेष हिंदी-मंत्रालय का आयोजन आवश्यक प्रतीत होता है। हिंदी के साहित्य की समृद्धि के लिये और अधिक प्रोत्साहन देना भी उसका कर्तव्य है। कतिपय प्रादेशिक राज्य, विशेष कर उत्तरप्रदेश, इस संबंध में जो कुछ कर रहे हैं वह अभिनंदनीय है। उसे निःशुल्क अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा के लिये गाँव-गाँव में पाठशाला स्थापित कर देना चाहिए।

**साहित्यकार संघ**—इसकी भी शिकायत है कि साहित्यिकों को संघटित रूप में जो काम हिंदी के विकास के लिये करना चाहिए वह नहीं हो रहा है। थोड़ा-बहुत व्यक्तिगत काम तो हो रहा ही है। संघटित रूप के काम से हमारा मंतव्य इस प्रकार के काम से है—अधिक क्रम-बद्ध शैली को ग्रहण करना, प्रचार और उन्नति के लिये नए और अधिक व्यापक साधनों से काम लेना, अवांछनीय, आपत्तिजनक पुस्तकों की निंदात्मक आलोचना करना, आवश्यक ग्रंथों को प्रकाशित करने के लिये प्रबंध करना, भाषा और साहित्य की त्रुटियों पर विचार करना और उनमें एकरूपता स्थापित करना, साहित्य को काव्य की मार्मिकता से खींचकर जीवन की वास्तविकता की ओर अधिक ले जाना, विदेशी साहित्य से आक्रांत भाषा को अपनी प्रकृति न खोने देना, बिना उसे प्रयोग-बोझिल बनाए उसकी अभिव्यंजना-शक्ति को बढ़ाना, इत्यादि।

यह भी देखना जरूरी है कि जन-साधारण के हेतु लिखी गई पुस्तकों की भाषा कठिन साहित्यिक न होकर सरल और सुबोध हो, जिससे उनके द्वारा उनके आधुनिक राजनीति, समाज, नागरिक कर्तव्य, व्यवसाय आदि के ज्ञान में वृद्धि होती रहे, और उनके मूढ़विश्वास और मिथ्याधर्म में कमी हो। पुस्तकों के केवल प्रकाशन से यह

काम न हो सकेगा। पुरानी कथा - पद्धति द्वारा, प्रचार-कार्य अच्छा हो सकता है। हिंदी पुस्तकों के, विशेष कर पाठ्य पुस्तकों के मूल्य में कुछ कमी करना युक्ति-संगत है।

**हिंदी की अनिवार्य शिक्षा**—हिंदीतर प्रांतों में प्रारंभिक शिक्षा तो विद्यार्थियों की मातृभाषा के माध्यम से ही होगी। वहाँ जिस स्थान से अँगरेजी की पढ़ाई आरंभ होती थी या होती है वहीं से हिंदी का प्रारंभ किया जा सकता है। इसमें किसी को आपत्ति न होनी चाहिए। हिंदी और प्रादेशिक भाषाओं की लिपि तो एक ही होगी, और उनमें सामान्य शब्द भी पर्याप्त होंगे, इसलिये हिंदी का सीखना बहुत सुगम होगा। उसी तरह हिंदी प्रदेश वालों को अन्य भाषाएँ (प्रादेशिक) सीखने में, और किसी एक प्रदेश वाले को दूसरे प्रदेश की भाषा सीखने में सुगमता होगी।

**विविध भाषाओं का लिपि-ऐक्य**—एक लिपि के प्रश्न पर कुछ विचार आवश्यक है। यह एक पुराना प्रश्न है, हिंदी के राष्ट्रभाषा उद्‌घोषित होने पर नहीं छिड़ा है। किंतु उस घोषणा के पश्चात् भाषा-लिपि-ऐक्य की अनिवार्यता अतर्क्य है। संवत् १९६४ में स्व० न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्र और विभिन्न भारतीय भाषाओं के प्रायः सभी प्रमुख विद्वानों ने एकमत होकर "देवनागर" पत्र का प्रकाशन आरंभ किया। उसका उद्देश्य था "भारत की भिन्न-भिन्न प्रांतिक भाषाओं को देवनागराक्षरों में लिखने और छापने का प्रचार बढ़ाना, जिससे कुछ समय के अनंतर भारतीय भाषाओं के लिये एक सामान्य लिपि प्रचलित हो जाये"। उससे भी पहले स्कूलों के इंस्पेक्टर श्री सैयद अमीर अली ने मुसलमानों से कहा था कि "मेरा आपलोगों के लिये सुझाव है कि आप नागरी लिपि को अपनावें। तब आपके पढ़ने लिखने में बड़ा सुभीता होगा।" नागरी लिपि और भिन्न-भिन्न प्रांतिक भाषाओं की लिपियाँ एक ब्राह्मी लिपि से निकली हैं। उनके रूपों में देश-काल-भेद से कुछ परिवर्तन होता गया। मुद्रणयंत्र तब थे, नहीं पर अक्षरों का उच्चारण आज भी एक ही है। यूरप की भिन्न-भिन्न भाषाओं ने, जो भिन्न-भिन्न देशों की हैं, एक ही 'रोमन' लिपि स्वीकार कर रखी है। यहाँ तो देश एक है, और निवासियों की सांस्कृतिक भाषा भी एक, अर्थात् संस्कृत, जो लिखी जाती है "देवनागरी" लिपि में और जो कहलाती है "देववाणी', जिसमें पारंगत होने के लिये विद्वानों को काशी की ही पुण्यभूमि में अध्ययन करने आना पड़ता है। संक्षेप में, "देवनागरी" भारतवर्ष की लिपि है,

उसमें आवश्यकतानुसार कुछ घटा-बढ़ाकर उसे अधिक समयोपयोगी बनाया जा सकता है, यदि बनाना चाहें।

**एक समन्वित भारतीय साहित्य**—इस तरह भाषाओं के संपर्क की समस्या हल हो सकेगी। फिर एक समन्वित भारतीय साहित्य का विकास, जो देशव्यापी सामान्य संस्कृति का व्यक्त रूप होगा, स्वाभाविक हो जायगा। इस कार्य के संपादन के लिये, जैसा "देवनागर" के विद्वान् संपादक ने लिखा है, "अनुवाद-कार्य", "सांस्कृतिक यात्राओं" (जिनसे व्यक्तियों का संपर्क संभव हो, संगीत इसमें अत्यंत सहायक होता है), "अंतरप्रांतीय गोष्ठियों, सम्मेलन आदि" का महत्त्व मानना पड़ेगा। यह सच है कि ये काम प्रशासन की सहायता बिना पूरे नहीं हो सकते, पर इनका नेतृत्व करना साहित्यिक संघों का कर्तव्य है। हिंदी भाषाभाषियों का दृष्टिकोण कभी प्रादेशिक नहीं होना चाहिए, वह सदा राष्ट्रीय होने ही से गुत्थियों को सुलझा सकेगा। राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीयता अविभाज्य हैं। संस्कृत-साहित्य सहस्रों वर्ष से इस संबंध में हमारा पथ-प्रदर्शक बना हुआ है—यह हमारे सौभाग्य की बात है।

**उर्दू आंदोलन**—यहाँ दो शब्द उर्दू-आंदोलन के संबंध में कह देना असंगत न होगा। हमारे अधिकतर मुसलमान भाई ऐसे आंदोलन के पक्ष में नहीं हैं और न अरब की संस्कृति का स्वप्न देखते हैं। इकबाल साहब के तहे-दिल से निकले शब्दों को अब भी वे सच मानते हैं, क्योंकि उनपर अँगरेजों की जादू की लकड़ी नहीं घुमा दी गई थी—

> "वहदत की लय सुनी थी दुनिया ने जिस मकाँ से,
> मीरे अरब को आई ठंढी हवा जहाँ से,
> मेरा वतन वही है, मेरा वतन वही है।"

पर कुछ सज्जनों को बिना छेड़खानी और लीडरी के चैन नहीं, और हिंदुओं में अब भी ऐसों की कमी नहीं जो स्वार्थवश उनका साथ देकर देश का अहित करने को तैयार हों। किंतु हम लोगों के सामने देश है आवेश नहीं, हमको ठंढे दिमाग से काम लेना है। उर्दू तो हिंदी की एक शैली है, वह यहीं पैदा हुई, पर उसे फारसी अक्षरों का जामा पहनाकर हिंदी से भिन्न एक भाषा कहकर खड़ा करना सिर्फ झगड़ा रचना है। जनता में उसे नागरी अक्षर का जामा पहनकर आना होगा,

अपने घर में उसे जैसे चाहे कोई सजाए। लोकप्रिय नेहरू जी ने देवनागरी को लोकप्रिय बनाने पर जोर दिया है और राष्ट्रपति जी ने भी उस बात को दोहराया है। फारसी अक्षरों में लिखी उर्दू को कोई हठी स्कूलों में पढ़ना चाहे तो उसे मना नहीं किया जाता है।

**अन्य भाषाओं के शब्दों का शुद्ध उच्चारण**—हमारा दावा है कि किसी भाषा के शब्द देवनागरी में ठीक-ठीक लिखे जा सकते हैं। तब 'क', 'ख', 'ग', 'ज' 'फ' आदि के नीचे बिंदु लगाकर कुछ विदेशी शब्दों का उच्चारण शुद्धता से करना ही होगा। ऐसा न करने से हमारी हानि हो रही है। उदाहरण के लिये 'ज' को कुछ अंग्रेजी शब्दों में लें। 'गेज' और 'गेज़', 'रेज' और 'रेज़', 'बज' और 'बज़', 'सीज' और 'सीज़' इत्यादि की अक्षरी (स्पेलिंग) और अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। पर स्कूलों में अथवा अन्यत्र जहाँ 'ज़' की जगह 'ज' बोलते हैं, शब्दों की स्पेलिंग में भूल करते हैं। जब हम हिंदी को अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनाने का दम भरते हैं तब उसमें जो जो कमी है उसे पूरा करना ही चाहिए।

**हिंदी की कमियों का निवारण**—हिंदी की कमियों पर थोड़ा और विचार करना अच्छा होगा। साहित्यकार-संघ, जिसका ऊपर संकेत किया गया है, इनपर पूर्ण रूप से विचार कर सकता है और इन्हें दूर करने का प्रयत्न कर सकता है। पर यह तभी संभव है जब साहित्यकारों को केवल साहित्यिक कार्य का भार वहन करना पड़े और वे अपना पूरा समय उसी काम में लगावें। संघ या सभा के संचालन से उनका लगाव न रहे। हिंदी में एक सर्वांगपूर्ण कोश की आवश्यकता है, जिसमें विविध प्रादेशिक भाषाओं के सर्वोपयोगी शब्दों, मुहावरों आदि का भी समावेश हो। प्रगति उभयपक्षीय होनी चाहिए। अभी एशिया की अधिकतर भाषाओं में पारिभाषिक शब्द, जिनकी इस विज्ञान-युग में बड़ी आवश्यकता है, नहीं पाए जाते हैं। यदि हम उन्हें सावधानी के साथ शीघ्र गढ़ लें तो उनका प्रचार उन सभी भाषाओं में हो सकेगा। वह एक वांछनीय संबंध-सूत्र होगा। बौद्ध धर्म के प्रचार के समय एक बृहत् संबंध-सूत्र भारत और एशिया के अन्य देशों के बीच स्थापित हो गया था। अपने पुराने संबंध को एक दूसरे रूप में हम फिर जिला सकते हैं। किंतु हिंदी को पूर्ण रूप से संपन्न बनाने में शीघ्रता होनी चाहिए, विलंब होने में अपनी राष्ट्रीय एकता के भी संकट में पड़ने का डर है।

**प्रामाणिक हिंदी**—यद्यपि हिंदी उत्तर-प्रदेश की ही प्रामाणिक मानी जायगी, तथापि विविध प्रदेशों में जो उसके प्रारंभिक रूप होंगे या हैं उनकी अवहेलना नहीं

की जा सकती। "किंग्स इंगलिश" तो सभी अंग्रेजीभाषी देशों और प्रदेशों में नहीं बोली या लिखी जाती । किसी भाषा के विकसित होने और रूप ग्रहण करने की स्वाभाविक पद्धति का विरोध नहीं करना चाहिए। हिंदी व्याकरण में भी सबकी सुविधा के लिये थोड़ा परिवर्तन किया जा सकता है। हिंदी-लेखकों में स्वयं कुछ शब्दों के विषय में एक मत नहीं है—जैसे "साँस" (संस्कृत "श्वास" जो वहाँ पुंलिंग है) को कोई पुंलिंग, कोई स्त्रीलिंग लिखते हैं। आत्मा के संबंध में भी वही भेद दिखाई देता है। सुविधा की बात तो यही है कि जो संस्कृत में पुंलिंग है वह हिंदी में भी पुंलिंग व्यवहृत हो। शब्दों के उच्चारण में तो प्रादेशिकता रहेगी ही। हिंदी प्रगतिशील है, उसमें परिवर्तन होता चला आया है। यदि उसमें प्रादेशिक भाषाएँ मिश्रित हो सकें तो प्रादेशिक विवाह-संबंधों की भी सुविधा हो सकेगी।

हिंदी और अंग्रेजी—अंग्रेजी भाषा हिंदी से अधिक संपन्न है, अतः उसका आकर्षक होना उन भारतीयों के लिये स्वाभाविक है जो उसके विद्वान् हैं। पर साथ ही साथ उनका यह भी कर्तव्य है कि यथाशक्ति वे राष्ट्रभाषा को समृद्ध बनाने में और नियत समय में उसके अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करने में सहायक हों। इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि अंग्रेजी से हमारा संपर्क छूट जायगा। किंतु राष्ट्रभाषा के प्रति उदासीनता राष्ट्र के प्रति भक्तिहीनता है।

प्रेरक तत्त्वों को सचेत करना—भारत को पराधीन बनाए रखने के लिये विदेशी शासकों ने कतिपय प्रेरक तत्त्वों को अचेत कर दिया था—जैसे आत्मविश्रंभ, श्रद्धा, उत्साह, देशभक्ति, लोकसंग्रह (अंग्रेजों ने विग्रह को प्रोत्साहन दिया) आदि को। आज भी उनके बहुत-कुछ अचेत रहने से हम सचेष्ट प्रयत्नों द्वारा अपने को काफी आगे नहीं बढ़ा रहे हैं, और स्वतंत्रता का सच्चा आनंद नहीं पा रहे हैं। स्वतंत्र भारत के प्रबुद्ध-चेतनावालों पर यह दायित्व है कि वे निष्काम कर्म एवं सच्ची सेवा-भावना के द्वारा अचेत को सचेत कर दें।

# हित-चौरासी और नरवाहन

[ श्री किशोरीलाल गुप्त ]

( १ )

राधावल्लभ संप्रदाय के संस्थापक, हरित्रयी ( हित हरिवंश, स्वामी हरिदास और हरीराम व्यास ) के श्रेष्ठतम रत्न, श्री हित हरिवंश की हिंदी रचना एकमात्र 'हित-चौरासी' है, जिसमें ८४ पद हैं। उनकी कुछ फुटकर रचनाएँ भी हैं, जिनमें २५ पद, ५ दोहे और ९ विनय संबंधी छप्पय, कुंडलियाँ आदि हैं। 'हित-चौरासी' के ८२ पदों में श्री हित हरिवंश की छाप है, किंतु दो पदों में उनकी छाप न होकर किसी नरवाहन की छाप है। वे पद ये हैं ( अंकित शब्दों के भिन्न पाठ का निर्देश पादटिप्पणी में 'पदप्रसंगमाला' और 'शिवसिंहसरोज' के अनुसार किया गया है )—

( श्री हित सखी-सखी संभाषण, शय्या समय )

मंजुल कल कुंज देश, राधा हरि विशद वेश,
राका नभ कुमुद बंधु[१], शरद यामिनी।
श्यामल दुति कनक अंग, विहरत मिलि[२] एक संग
नीरद मणि नील मध्य लसत दामिनी।
वरुण पीत नव दुकूल, अनुपम अनुराग मूल,
सौरभ युत शील[३] अनिल,[४] मंद गामिनी।
किशलय दल रचित[५] शैन, बोलत पिय चाटु[६] बैन,
मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल[७] कामिनी।
मोहन मन मथत मार, परसत कुच नीवी हार,
बेपथ युत नेति नेति वदति,[८] भामिनी।

---

१—वधू ( पदप्रसंगमाला )। २—लखि ( सरोज )। ३—सीस-( सरोज )। ४—अमित ( पदप्रसंगमाला )। ५—चित्त-( सरोज )। ६—चारु ( पदप्रसंगमाला )। ७—गतिपद अनुकूल-( सरोज )। ८—कहत-( सरोज )।

'नरवाहन' प्रभु सुकेलि[९] बहुविधि भरभरत झेलि
सौरत[१०] रस रूप नदी जगत यामिनी ।[११] —हित-चौरासी, ११

**( श्री हित प्रिया सखी परस्पर संभाषण, रास समय )**

चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख निधान
रास रुपे श्याम तट कलिंद नंदिनी ।
निर्तत युवती समूह, राग रंग अति कुतूह[१२],
बाजत रसमूल, मुरलिका अनंदिनी ।
वंशीवट निकट जहाँ, परम रमणि[१३] भूमि तहाँ
सकल सुखद मलय बहे[१४] वायु मंदिनी ।
जाती ईपद विकास कानन अतिशय सुवास
राका निशि शरद मास विमल चंदिनी ।
'नरवाहन' प्रभु विहार,[१५] लोचन भरि घोष नारि
नखशिख सौंदर्य काम[१६] दुख निकंदिनी ।
विलसहु[१७] भुज ग्रीव मेलि, भामिनि सुख सिंधु झेलि,
नव निकुंज श्याम केलि जगत नंदिनी ।[१८] हित–चौरासी, १२

प्रश्न उठता है कि यह नरवाहन हैं कौन, और इनकी रचना हितचौरासी में कैसे संकलित हो गई और किसने संकलित की ? क्या उनकी और भी रचनाएँ कहीं उपलब्ध हैं ? आगे इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया गया है । वृंदावन के श्री राधावल्लभ मंदिर के अधिकारी गोस्वामी हितरूप लाल जी ने सं० १९९३ वि० में श्री प्रभुदयाल मीतल के अग्रवाल प्रेस ( मथुरा ) से 'श्री हित सुधासागर' नाम से हित हरिवंश जी की समस्त हिंदी एवं संस्कृत रचनाओं को प्रकाशित कराया था । इस ग्रंथ में संप्रदाय संबंधी अन्य सामग्री भी है । 'श्री हित-रसिक-नाम-ध्वनि' नामक एक लघु रचना ग्रंथांत में दी गई है । इसमें अन्य भक्तों के साथ नरवाहन का भी नाम आया है—

---

९—केलि ( पदप्रसंगमाला ) १०—सुरति-( सरोज ), सौरभ ( पदप्रसंगमाला ) । ११—पावनी ( पदप्रसंगमाला ) । १२—कुतूहल ( पदप्रसंगमाला ) ।

१३—परिरंभण ( सरोज ), परम रचन ( पदप्रसंगमाला ) । १४—बहै मलय

१५—निहारि–( सरोज ) । १६—कांत–( सरोज ) । १७—किसलय–( सरोज )

१८—'पदप्रसंगमाला' में अंतिम चरण नहीं है ।

नरवाहन, ध्रुवदास, व्यास, श्रीसेवक, नागरीदास ।
बीठल, मोहन, नवल छबीले हित चरनन की आस ॥
—श्री हित सुधासागर, पृष्ठ ११९

इससे स्पष्ट है कि श्री नरवाहन जी राधावल्लभ संप्रदाय के कोई भक्त हुए हैं। इनके संबंध में उक्त 'श्री हित सुधासागर' में और कोई उल्लेख नहीं, भूमिका में भी इनके संबंध में कोई विचार नहीं किया गया है।

( २ )

'शिवसिंहसरोज' में नरवाहन जी का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

नरवाहन जी कवि भोगांव निवासी, सं० १६०० में उ० ।
यह कवि स्वामी हित हरिवंश जी के शिष्य थे। इनके पद बहुत विचित्र हैं।
इनकी कथा भक्तमाल में है।

सरोज में नरवाहन जी के दो पद उद्धृत हैं। ये दोनों पद रंच पाठभेद से वही हैं जो 'हित-चौरासी' में संकलित हैं। मेरा अनुमान है कि 'सरोज' में जो दो पद उद्धृत हुए हैं वे हित-चौरासी से ही। संभवतः लेखक के सामने इन दोनों पदों के अतिरिक्त और कोई पद नहीं था। यदि किसी अन्य स्थान से ये पद लिए गए होते तो कोई आवश्यक नहीं था कि ये ही पद उद्धृत होते। यदि मेरा अनुमान ठीक नहीं है, तो यह संयोग आश्चर्यजनक है।

शिवसिंह जी के अनुसार नरवाहन सं० १६०० में उ० थे। उ० उपस्थित का सूचक है, न कि उत्पन्न होने का। यदि यह उनका उत्पत्ति-संवत् है तो उनका हित हरिवंश जी का शिष्य होना बहुत संभव नहीं, क्योंकि राधावल्लभ संप्रदाय के अनुसार हरिवंश जी का निधन सं० १६०९ वि० में हुआ।

( ३ )

'नागरीदास' जी ने 'पदप्रसंगमाला' ग्रंथ में अनेक भक्त कवियों के पदों के संबंध में प्रचलित कथाओं को ब्रजभाषा गद्य में लिखा है। हितचौरासी के उक्त दोनों पदों के संबंध में भी एक कथा दी गई है। उस ग्रंथ से, संबंधित अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

श्री ब्रज में नरवाहन नाम जमीदार रहै, सो दौड़ि करि काफिला मारयो करै। एक समै एक काफिला पर दौरे। गृहस्थ एक लाखनि कौ द्रव्य लियै जात हो, ताको द्रव्य लियै सहित पकरि ल्याए, अपनै घर बंदीखानै मै दियो। सो वह गृहस्थ श्रीहरिवंश जी को शिष्य

हुतो, अरु यह नरवाहनहू शिष्य हरिवंश जी को हुतो। सो इन दोऊन को खबरि नही, जो हम एक गुर के शिष्य हैं। सो वह गृहस्थ एक समैं भुरहरी की बेर बंदीखाना मैं पद पाठ करन लग्यो, हरिवंश जी की चौरासी के। वाके नित्य नेम हो। सो सुनि नरवाहन दौरि जाय पूछ्यो, तुम कौन के शिष्य हो तब वाने हरिवंस जी को नाम लियो। सो सुनि वाको द्रव्य वाकौ दै दंडोत कर सीख दई। यह बात श्री हरिवंस जी सुनि आज्ञा करी जु या कलि काल में लालनि को द्रव्य दै डारिबो गुरु के नाम पर महा कठिन है, बहुत प्रसन्न भए। सो द्वैपद बनाए तामें अपने शिष्य नरवाहन को भोग दीनौ। सो अजहूँ वे पद चौरासी के पदनि मैं। उनको पाठ, उनके शिष्य साखा पाठ करत हैं। सो वह यह पद—

इसके अनंतर उक्त दोनों पद उद्धृत हैं। पाठभेद यत्र-तत्र हैं।

इस सारी सामग्री के पर्यालोचन से नरवाहन के संबंध में हम निम्नोक्त निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

१—नरवाहन हित हरिवंश जी के शिष्य थे, उनके समकालीन थे, सं० १६०० में उपस्थित थे।

२—नरवाहन भोगाँव (संभवतः, जिला मैनपुरी) के रहनेवाले एक जमींदार थे जो डाका भी डाला करते थे।

३—नरवाहन अत्यंत गुरुभक्त थे। संभवतः कवि नहीं थे। यदि कवि होते तो हरिवंश जी उन्हीं के बनाए दो पदों को हित-चौरासी में सम्मिलित कर लेते, स्वयं बनाकर उनकी छाप न देते।

४—ये दोनों पद हरिवंश जी के ही हैं। उन्होंने इनको हितचौरासी में संकलित किया—अपने डाकू और जमींदार शिष्य की गुरु-भक्ति देखकर।

५—इन दोनों पदों के अतिरिक्त नरवाहन के छाप की और कोई रचना मुझे अभी नहीं मिली है।

नरवाहन के संबंध में शिवसिंह जी के अनुसार नाभादासकृत भक्तमाल में एक छप्पय है। प्रियादास जी की टीका में उनके जीवन की कुछ और सामग्री सुलभ हो सकती है। परंतु हित-चौरासी के इन दो पदों के प्रसंग में नरवाहन के संबंध की और सामग्री अपेक्षित नहीं।

# पत्रिका को प्रगति

एवं

# अनुक्रमणिका

# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

## प्रगति का संक्षिप्त सिंहावलोकन

( सं० १९५३–२०१० )

नागरीप्रचारिणी सभा ने अपने जीवन के विगत साठ वर्षों में नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा एवं साहित्य की समुन्नति के हेतु जो-जो विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं उन सबका बीजारोपण वह अपने संस्थापन-काल से छः-सात वर्षों के भीतर ही कर चुकी थी। ऐसे ही कार्यों में से एक नागरीप्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन भी है जिसका आरंभ सं० १९५३ वि० में हुआ था। तब से सभा की यह मुखपत्रिका अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करती हुई, समय-समय पर साधारण परिवर्तनों के साथ, सभा के उद्देश्यों के अनुरूप भारती की सेवा में निरंतर तत्पर रही है। इस बीच इसके दो प्रकार के संस्करण निकले—इसका 'नवीन संस्करण' जो अब तक चल रहा है, इसके पचीसवें वर्ष ( सं० १९७७ ) से आरंभ होता है; प्राचीन संस्करण के अंतर्गत भाग १ से २४ तक आते हैं।

### प्राचीन संस्करण

सभा के तृतीय वार्षिक विवरण में पत्रिका के प्रकाशन का हेतु बतलाते हुए कहा गया है कि सभा की कोई सामयिक पत्रिका न होने के कारण उसके बहुत से निर्णय अप्रचारित रह जाते और बहुतेरे उद्योग निष्फल हो जाते थे तथा सभा में आए हुए अनेक उपयोगी एवं भावपूर्ण लेखों के प्रकाशन का कोई प्रबंध न हो पाता था। साथ ही हिंदी में भाषातत्त्व, भूतत्त्व, विज्ञान, इतिहास आदि विषयों के लेखों एवं ग्रंथों का पूर्ण अभाव था। इन्हीं बातों का अनुभव कर सभा ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका निकालना प्रारंभ किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में इसका उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा "हिंदी में गद्य-साहित्य की कमी दूर हो" और "ऐसे लेखों की संख्या बढ़ती रहे जिनका लक्ष्य न केवल पाठकों का मनोरंजन करना वरन् हिंदी बोलनेवालों के विचारों को कुछ बढ़ाना और उनकी दृष्टि को कुछ और दूर तक फैलाना हो।"

पहलेपहल पत्रिका का प्रकाशन त्रैमासिक रूप में आरंभ हुआ और इसके प्रत्येक अंक में डिमाई ( १८″ × २२″ ) अठपेजी आकार के केवल ४८ पृष्ठ होते थे। उपर्युक्त उद्देश्य के अनुसार इसमें इतिहास, भाषातत्त्व, साहित्य, ज्योतिष, दर्शन, विज्ञान आदि विषयों पर लेख निकलने लगे। लेखों के चुनाव के लिये आरंभ में एक परीक्षक-समिति बना दी गई, जिसके सदस्य थे—सर्वश्री रायबहादुर लक्ष्मीशंकर मिश्र, राधाकृष्णदास, कार्तिकप्रसाद, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', देवकीनंदन खत्री। पत्रिका की भाषा-नीति सभा के ३ अगस्त १८९६ के निश्चय के अनुसार यह थी कि लेखों की भाषा ठेठ हिंदी हो, उसमें संस्कृत अथवा अरबी-फारसी के बड़े-बड़े शब्द न रखे जायँ; जिन लेखों में अरबी-फारसी के बहुत से शब्द भरे हों उन्हें परीक्षक-समिति अस्वीकार कर दे।

इस प्रकार, अपने आकार और नीति में बिना कोई परिवर्तन किए, पत्रिका ग्यारह वर्षों तक निकलती रही। इसके संपादक, प्रथम पाँच वर्षों में परीक्षक-समिति के निरीक्षण में तथा छठे वर्ष स्वतंत्र रूप से, बाबू श्यामसुंदरदास रहे। सातवें से ग्यारहवें वर्ष ( सं० १९५९–६३ ) तक क्रमशः महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी, बाबू श्यामसुंदरदास ( १९६०–६१, दो वर्ष ), श्री कालिदास तथा श्री राधाकृष्णदास संपादक रहे। नवें वर्ष ( सं० १९६१ में ) पं० किशोरीलाल गोस्वामी सहायक संपादक थे।

बारहवें वर्ष से पत्रिका का रूप त्रैमासिक से मासिक कर दिया गया और प्रत्येक अंक की पृष्ठ-संख्या ४८ से ३२ कर दी गई। इस प्रकार वार्षिक पृष्ठ-संख्या दूनी हो गई, पर वार्षिक मूल्य केवल एक रुपया रखा गया, जो उस समय की भी हिंदी पत्रिकाओं में सबसे कम था। बारहवें भाग से सभा के मासिक कार्य-विवरणों को भी, जो पहले 'भारत-जीवन' पत्र में छपा करते थे, पत्रिका में छापने का निश्चय किया गया। बारहवें और तेरहवें वर्ष (सं० १९६४-६५) संपादक बाबू श्यामसुंदरदास रहे।

चौदहवें वर्ष ( सं० १९६६ ) पत्रिका का आकार डिमाई चौपेजी कर दिया गया और पृष्ठ-संख्या घटाकर प्रति अंक १२ कर दी गई। मूल्य वही १) रहा। पत्रिका में सभा के मासिक कार्य-विवरण छापने के कारण अब उसमें लेखों के लिये स्थान बहुत कम हो गया था और जो लंबे लेख छपने को आते थे उन्हें कई अंकों में खंडशः छापना पड़ता था, जिससे उनकी रोचकता जाती रहती थी। यह अनुभव करके पत्रिका को अधिक रोचक बनाने के उद्देश्य से उक्त परिवर्तन बाबू श्यामसुंदर

दास के प्रस्ताव पर सभा की प्रबंधकारिणी समिति के निश्चयानुसार किया गया और यह निश्चित हुआ कि अब से बड़े-बड़े लेख पुस्तक 'लेखमाला' में छपा करें, और पत्रिका में छोटे-छोटे साहित्यिक लेख तथा हिंदी-संबंधी समाचारों पर टिप्पणियाँ दी जाया करें; इसमें हिंदी के उत्तम प्रकाशित ग्रंथों का भी उल्लेख रहा करे तथा देश में होनेवाले साहित्य एवं शिक्षा-संबंधी कार्यों पर भी दृष्टि रखी जाय और उन-पर संमति प्रकाशित हुआ करे। "हिंदी की सामयिक स्थिति का निदर्शन करना, उसकी उन्नति के उपायों पर विचार करना, और उसके संबंध में जहाँ-कहीं कोई बात हो उसकी सूचना देना" उस समय से पत्रिका का प्रधान धर्म हुआ।

इस नीति के अनुसार पत्रिका चौबीसवें भाग तक निकलती रही, केवल इसका आकार सोलहवें वर्ष बदलकर क्राउन चौपेजी कर दिया गया और पृष्ठ-संख्या १२ से २४ कर दी गई।

चौदहवें से उन्नीसवें वर्ष तक ( १९६६-७१ ) संपादक पं० रामचंद्र शुक्ल रहे। अठारहवें और उन्नीसवें वर्ष उनके साथ बाबू रामचंद्र वर्मा पत्रिका के सहायक संपादक रहे। बीसवें वर्ष (सं० १९७२ में) बाबू रामचंद्र वर्मा वैतनिक संपादक नियुक्त हुए और इक्कीसवें वर्ष तक रहे। बाईसवें वर्ष ( सं १९७४ ) उनके त्यागपत्र देने पर तीन सदस्यों की एक उपसमिति बना दी गई, जिसके एक सदस्य श्री वेणीप्रसाद थे, जिन्होंने ही उस वर्ष संपादन-कार्य सँभाला। तेईसवें वर्ष ( सं० १९७५ ) पं० राम-चंद्र शुक्ल पुनः संपादक हुए और चौबीसवें वर्ष भी वही रहे।

इस प्रकार पत्रिका के प्राचीन संस्करण के चौबीस भाग पूरे हुए, तत्पश्चात् उसकी नीति में पुनः परिवर्तन हुआ। प्राचीन संस्करण बाद में वर्ष-क्रम से चौबीस भागों में पुनः मुद्रित किया गया।

## नवीन संस्करण

पच्चीसवें वर्ष, वैशाख सं० १९७७, से पत्रिका का नवीन संस्करण आरंभ होता है। इस वर्ष पत्रिका के आकार और नीति दोनों में परिवर्तन हुआ। वह पुनः त्रैमासिक कर दी गई और पृष्ठों की संख्या रायल ( २०"×२६" ) अठपेजी आकार में प्रति अंक १२० रखी गई। मूल्य प्रति अंक १) रखा गया, जो छठे भाग से २॥) कर दिया गया। इस नवीन संस्करण की मुख्य विशेषता यह हुई कि इसमें पत्रिका को 'प्राचीन-शोध-संबंधी' पत्रिका बनाने का विशेष रूप से प्रयत्न किया गया। इसके प्रथम संपादक हुए महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, मुंशी

देवीप्रसाद, पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी एवं बाबू श्यामसुंदरदास। उन्होंने प्रथम अंक में ही संपादकीय 'निवेदन' में नवीन संस्करण का लक्ष्य इस प्रकार स्पष्ट किया है—"अनुसंधान विषयक लेख सब अंग्रेजी में ही छपते हैं, हिंदी में तो यदा-कदा उनके दर्शन हो जाते हैं।······इस अवस्था में यह आवश्यक है कि हिंदी में ऐसी सामयिक पत्रिका हो जिसमें प्राचीन शिलालेख, दानपत्रादि, सिक्के, ऐतिहासिक ग्रंथों के सारांश, विदेशियों की पुस्तकों में लिखी हुई भारतीय ऐतिहासिक बातों, प्राचीन भूगोल, राजा और विद्वानों आदि के समय का निर्णय आदि विभिन्न विषयों पर लेख प्रकाशित होते रहें।"

उस समय हिंदी में अनुसंधान विषयक पत्रिका निकालना आज की अपेक्षा भी कहीं अधिक दुष्कर कार्य था, किंतु विद्वान् संपादकों के उद्योग से पत्रिका अपने लक्ष्य की ओर सफलतापूर्वक अग्रसर हुई और देश के बाहर विदेश के विद्वानों में भी इसने आदर प्राप्त किया। रायल एशियाटिक सोसायटी ऑव ग्रेट ब्रिटेन ऐंड आयर्लैंड की अप्रैल सन् १९२१ की पत्रिका (पृ० २८६-८७) में इसकी समीक्षा करते हुए डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपनी जो संमति व्यक्त की थी उसके अनुवाद (पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग २ के अंत में मुद्रित) से कुछ वाक्य यहाँ उद्धृत हैं—"अब सभा ने पत्रिका का नया संदर्भ शुद्ध वैज्ञानिक रीति से प्रकाशित करने का निश्चय किया है और इसके पहले दो अंक सभा के कार्य की विशेष उन्नति के सूचक हैं। इनसे एक ऐसी पत्रिका का आरंभ होता है जो, हम आशा करते हैं, एक भारतीय विद्वत्सभा के सर्वथा उपयुक्त होगी।······हम वास्तव में एक गंभीरतापूर्ण पत्रिका के प्रकाशित करने पर सभा का अभिनंदन करते हैं।···सब लेख हिंदी में लिखे हैं। यह सभा भारतीय संस्था है और अपने पाठकों से भारतीय भाषाओं द्वारा ही संबोधन करती है। इसके लेख युरोपीय विद्वानों की जुगाली मात्र नहीं हैं, वरन् स्वतंत्र शोध से लिखे गए हैं। इसलिये उनमें स्थिर किए गए सिद्धांतों से चाहे हम सहमत न हों, पर पश्चिम में इनका अति संमानपूर्वक स्वागत होना चाहिए।"

उपर्युक्त चारों विद्वान् पहले से तीसरे भाग (सं० १९७७-७९) तक पत्रिका के संपादक रहे। तीसरे ही वर्ष गुलेरी जी का निधन हो जाने से पत्रिका उनके विलक्षण प्रतिभा-दान से सदा के लिये वंचित हो गई। चौथे से तेरहवें भाग तक (१९८०-८९) अकेले ओझा जी ही संपादक रहे। इस प्रकार निरंतर तेरह वर्षों तक वे पत्रिका के प्रधान संपादक रहे। उनके बाद चौदहवें से अठारहवें भाग (१९९०-

९४) तक संपादक बाबू श्यामसुंदरदास रहे। १९९३ तथा १९९४ में श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ उनके सहायक संपादक थे।

उन्नीसवें भाग अर्थात् तैंतालीसवें वर्ष (सं० १९९५) से, पत्रिका के अनुसंधान-विषयक लक्ष्य को स्थिर रखते हुए इसके उद्देश्यों को कुछ और व्यापक रूप दिया गया। तैंतालीसवें वर्ष की संपादकीय टिप्पणी में इसका हेतु स्पष्ट करते हुए लिखा गया है—"सभा चाहती है कि उसकी मुखपत्रिका अपने पद पर आरूढ़ रहकर और भी उपयोगी सिद्ध हो, इसके द्वारा और व्यापक अनुशीलन तथा विवेचनाएँ प्रस्तुत हों। अतः सभा ने इसके उद्देश्य अब इस प्रकार निश्चित कर दिए हैं—

१—नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।"

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये पत्रिका में स्वतंत्र शोधसंबंधी लेखों के अतिरिक्त कुछ स्थायी स्तंभ आरंभ किए गए। यथा चयन (अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित विशिष्ट लेखों का संकलन); समीक्षा (उल्लेखनीय प्रकाशित पुस्तकों की आलोचना तथा समीक्षार्थ प्राप्त समस्त पुस्तकों की प्राप्ति-स्वीकृति); विविध (महत्त्वपूर्ण विषयों पर संपादकीय तथा अन्य टिप्पणियाँ); एवं सभा की प्रगति (सभा के कार्यों का संक्षिप्त विवरण)।

पत्रिका का आकार चौदहवें भाग से छोटा कर दिया गया था, वह पुनः रायल (२०"×२६") अठपेजी कर दिया गया और पृष्ठ-संख्या प्रति वर्ष ४८० कर दी गई, जो छियालीसवें वर्ष ३८४ हो गई।

तैंतालीसवें वर्ष (सं० १९९५) पत्रिका का एक संपादक-मंडल बना दिया गया, जिसके सदस्य थे सर्वश्री रामचंद्र शुक्ल, मंगलदेव शास्त्री, केशवप्रसाद मिश्र, जयचंद्र नारंग, लक्ष्मीप्रसाद पांडेय, कृष्णानंद। चौवालीसवें और पैंतालीसवें वर्ष मंडल के सदस्य सर्वश्री रामचंद्र शुक्ल; मंगलदेव शास्त्री, केशवप्रसाद मिश्र, वासुदेव शरण अग्रवाल तथा कृष्णानंद रहे। सं० १९९७ में पं० रामचंद्र शुक्ल का स्वर्गवास हो गया और उनके बहुमूल्य सहयोग से पत्रिका सदा के लिये वंचित हो गई। छियालीसवें तथा सैंतालीसवें वर्ष संपादक-मंडल के सदस्य सर्वश्री केशवप्रसाद मिश्र,

वासुदेवशरण अग्रवाल, नर्मदाप्रसाद आचार्य तथा कृष्णानंद रहे। कारण इन पाँच वर्षों में संपादन का भार श्री कृष्णानंद को ही सँभालना पड़ा। इस प्रकार सैंतालीसवें वर्ष तक पत्रिका यथाक्रम निकलती रही।

अड़तालीसवें वर्ष ( सं० २००० ) सभा की स्वर्ण-जयंती के साथ-साथ विक्रमीय द्विसहस्राब्दी भी मनाई गई, जिसके स्मारक-स्वरूप वर्ष के चारों अंकों को मिलाकर "विक्रमांक" नाम से पत्रिका का एक विशेषांक डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ। सं० २००१ में इस विक्रमांक का उत्तरार्ध भी उन्हीं के संपादकत्व में निकला। इन दोनों में पुरातत्त्व, इतिहास एवं संस्कृति विषयक लेख प्रकाशित हुए। विशेष अंक होने के कारण इनमें साधारण अंकों के 'चयन' आदि स्तंभों को छोड़ दिया गया। कागज के अभाव के कारण "विक्रमांक" ( पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध ) में केवल ३८० पृष्ठ दिए जा सके।

पचासवें वर्ष ( सं० २००२ ) संपादक श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, एम० ए० हुए। इस वर्ष से वैतनिक सहायक संपादक की भी व्यवस्था की गई और उस पदपर श्री शिवनाथ, एम० ए० की नियुक्ति हुई। मिश्र जी सं० २००५ तक संपादक रहे तथा सहायक संपादक सं० २००४ तक श्री शिवनाथ एवं २००४ में श्री वटेकृष्ण, एम० ए० रहे। पत्रिका अपने उद्देश्यों के पालन में निरंतर तत्पर रही, किंतु युद्ध के कारण कागज की कठिनाई बनी ही रही, जिससे वार्षिक पृष्ठ-संख्या १७६ तक सीमित रखनी पड़ी।

सं० २००६ में पत्रिका के संपादक श्री कृष्णानंद चुने गए, जो सं० १९९५ से १९९९ तक पहले भी संपादक रह चुके थे। सहायक संपादक के पद पर श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव की नियुक्ति हुई। ये दोनों सज्जन अब तक कार्य कर रहे हैं। पचपनवें वर्ष ( सं० २००७ ) के चतुर्थ अंक से एक संपादन-परामर्श-मंडल भी बना दिया गया था, जो २००८ तक रहा। इसके सदस्य थे आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, श्री राय कृष्णदास, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। इसी वर्ष आचार्य केशवप्रसाद मिश्र का निधन हो जाने से उनके सत्परामर्श एवं सहयोग से पत्रिका को वंचित होना पड़ा। २००७ में उनके स्थान पर मंडल के सदस्य डा० मंगलदेव शास्त्री चुने गए।

सं० २०१० में संपादक हैं डाक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी और श्री कृष्णानंद तथा सहायक संपादक श्री पुरुषोत्तमलाल।

सं० १९९५ में सभा ने पत्रिका के जो उद्देश्य निश्चित कर दिए थे "उन्हीं उद्देश्यों की छाया में" शक्ति-परिस्थितिवश न्यूनाधिक अनुरूपता से इसने अपने ग्यारह वर्ष पूरे किए। पत्रिका का चौवनवाँ वर्ष हिंदी के इतिहास में अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि उसी वर्ष भारतीय संविधान-परिषद् ने देश की राष्ट्रभाषा हिंदी को भारतीय संघ की राजभाषा स्वीकार कर लिया। हिंदी की इस अपूर्व प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसके ऊपर वैसा ही अपूर्व उत्तरदायित्व भी आ गया, जिसके प्रति पत्रिका बराबर सजग रही और तदनुरूप "भारतीय अनुशीलन की स्वतंत्र सर्वमुख प्रगति का तथा हिंदी को उसके लिये समर्थ माध्यम" बनाने का नव-संकल्प किया, जिसपर निरंतर दृढ़ रहकर अब वह पाँचवाँ वर्ष पूरा कर रही है।

इन पाँच वर्षों में पत्रिका को उसकी प्रतिष्ठा के अनुरूप बनाने का यथा-संभव प्रयत्न किया गया। कागज किंचित् सुलभ हो जाने पर उसमें परिवर्तन संभव हुआ और पृष्ठ-संख्या भी बढ़ाकर वर्ष में ३२० कर दी गई। विशेषांकों को लेकर पिछले चार वर्षों में औसत पृष्ठ-संख्या प्रति वर्ष ३८४ रही। किंतु इस विषय में अभी पत्रिका अपनी युद्ध-पूर्व स्थिति में भी नहीं आ सकी है और भारतीय अनुशीलन की प्रगति को देखते हुए उक्त पृष्ठ-संख्या किसी प्रकार पर्याप्त नहीं कही जा सकती।

चौवनवें वर्ष के आरंभ में पहले के जो अंक पिछड़ गए थे वे पचपनवें के मध्य तक पूरे कर लिए गए। 'चयन' आदि स्तंभों को फिर नियमित रूप से आरंभ किया गया। 'विमर्श' नाम से एक नया स्तंभ भी दिया गया जिसमें किसी सामयिक विषय पर, विशेषतः पत्रिका में प्रकाशित लेखों पर, विद्वानों के ऊहापोह प्रस्तुत किए जाते हैं। 'चयन' के अंतर्गत 'निर्देश' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण उपस्तंभ दिया जाता है, इसमें अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित उल्लेखनीय लेखों का उनके निर्देश सहित सारांश दिया जाता है। इससे सहज ही अन्यत्र प्रकाशित पठनीय सामग्री एवं अनुशीलन की प्रगति की सूचना पाठकों को मिलती रहती है।

सं० २००७ में सभा ने 'भारतेंदु-जन्मशती' मनाई, उस अवसर पर सभा के निश्चयानुसार पत्रिका का 'भारतेंदु-जन्म-शती' अंक प्रकाशित हुआ। सं० २००८ में आचार्य केशवप्रसाद मिश्र की वार्षिकी के अवसर पर 'केशव-स्मृति अंक' निकाला गया। इन दोनों विशेषांकों का विद्वानों ने पर्याप्त आदर किया। अब सं० २०१० में इसका हीरक-जयंती विशेषांक प्रस्तुत किया जा रहा है।

## नवीन संस्करण की अनुक्रमणिका

नागरी प्रचारिणी पत्रिका के नवीन संस्करण के प्रारंभ ( सं० १९७७ ) से सं० २,०९ तक उसमें प्रकाशित लेखों एवं उनके लेखकों की अनुक्रमणिकाएँ आगे प्रस्तुत की जाती हैं।

उक्त अवधि में पत्रिका में ५१४ लेख स्वतंत्र रूप से और ६१ 'विमर्श' के अंतर्गत प्रकाशित हुए तथा २०१ विविध विषय की संपादकीय तथा अन्य टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं। ७७ विशिष्ट लेखों का चयन किया गया और 'निर्देश' में १५१ लेखों का हिंदी पत्रिकाओं से तथा १७९ का अंग्रेजी पत्रिकाओं से उल्लेख किया गया। लगभग २६४ पुस्तकों की समीक्षा प्रकाशित हुई।

# अनुक्रमणिका

## १—लेख ( सं० १६७७-२००६ )

चयन

चयन

चयन

विविध—

विविध—

विविध—

विविध

विविध



विविध विषय

विविध विषय

विविध विषय

विविध विषय

## २—लेखक ( सं० १९७७-२००९ )

सर्वश्री

सर्वश्री

सर्वश्री

सर्वश्री

सर्वश्री

सर्वश्री

सर्वश्री

सर्वश्री

*विमर्श*



*विविध*

सर्वश्री

सर्वश्री

सर्वश्री

# स्व० पं० रामनारायण मिश्र

## जीवनचरित

तथा

## संस्मरण-श्रद्धांजलियाँ

# स्वर्गीय श्री रामनारायण मिश्र*

## संक्षिप्त जीवनचरित

जन्म और बाल्यावस्था—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के अन्यतम संस्थापक स्व० श्री रामनारायण मिश्र का जन्म सारस्वत ब्राह्मण-कुल में संवत् १९३३ (?) में भद्रकाली एकादशी ( ज्येष्ठ कृष्ण ११ ) के दिन हुआ था। अपने जन्म की तिथि एवं स्थान के विषय में पंडित जी ने स्वयं इस प्रकार लिखा है—"मेरी जन्मपत्री खो गई। इतना मालूम है कि मेरा जन्म भद्रकाली एकादशी पर हुआ था, जो ज्येष्ठ में निर्जला एकादशी के पंद्रह दिन पहले पड़ती है, अर्थात् मेरा जन्म-दिन ज्येष्ठ कृष्ण ११ है। मेरे पिता जी ने क्वींस कालेज में मेरा नाम ४ अगस्त १८८३ में लिखवाया था और वहाँ मेरी उम्र नौ बरस बतलाई थी। इस हिसाब से मेरा जन्म १८७४ में हुआ होगा, अर्थात् १९३२ या १९३३ में। जब गवर्नमेंट सर्विस में आया तब लोगों ने बतलाया कि जिसके जन्म की तारीख और महीना न मालूम हो वह पहली जुलाई लिख सकता है। सन् मैंने अंदाज से १८७६ लिख दिया। मेरा जन्म-स्थान दिल्ली है जो उस समय पंजाब प्रांत के अंतर्गत था।"

पंडित जी के पूर्वजों का निवास-स्थान अमृतसर था और इनके पिता पंडित चिरंजीव मिश्र वहीं रहते थे। पंडित जी बचपन में वहीं उर्दू पढ़ते थे। इनके मामा डा० छन्नूलाल इन्हें इनके वृद्ध माता-पिता के साथ बनारस ले आए। उस समय इनकी अवस्था सात-आठ वर्ष के लगभग थी। अपने मामा के संबंध में इन्होंने लिखा है—

"मेरे मामा डा० छन्नूलाल लाहौर मेडिकल कालेज से पढ़कर पेशावर और मियाँवाली में असिस्टंट सर्जन हुए। उत्तर-प्रदेश की सरकार की माँग पर वे इस प्रांत में आ गए। कुछ दिनों तक मुरादाबाद अस्पताल में रहकर बनारस के असिस्टंट

*मिश्र जी के इस संक्षिप्त जीवनचरित के निमित्त अधिकांश उन्हीं के हाथ की लिखी सामग्री सुलभ करने के लिये उनके सुपुत्र श्री श्रीशचंद्र शर्मा हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।—संपादक

सर्जन हुए और वहीं मेरे माता-पिता को बुलवा लिया। मैं शायद उस समय सात-आठ बरस का था। डाक्टर छन्नूलाल सितंबर १८९३ में अमेरिका में शिकागो नगर में जो सर्वधर्म-सम्मेलन ( Parliament of Religions ) हुआ था उसमें शरीक हुए थे।" ये वही डाक्टर छन्नूलाल हैं जिनके नाम से नागरीप्रचारिणी सभा विज्ञान की सर्वोत्तम पुस्तक पर पुरस्कार दिया करती है।

( मिश्र जी के स्वाक्षरों में )

मेरा जन्म स्थान दिल्ली है और उस समय पंजाब के प्रान्त के अन्तर्गत था। मेरे पिताजी उस समय में रहते थे और बचपन में मैं वहीं उर्दू पढ़ता था। मेरे मामा डाक्टर छन्नूलाल लाहौर मेडिकल कालेज से पढ़कर के शायर और पिताजी के प्रतिष्ठित सर्जन हुए। उत्तर प्रदेश की सरकार की मांग पर वे इस प्रान्त में आगए और कुछ दिनों तक मुरादाबाद अथवा में रहकर बनारस के सिविल सरजन हुए और वहीं मेरे माता पिता को बुलवा लिया। मैं शायद उस समय सात आठ बरस का था। डाक्टर छन्नूलाल सितम्बर १८९३ में अमेरिका के शिकागो नगर में जो सर्वधर्म सम्मेलन (Parliament of Religions) हुआ था उसमें शरीक हुए थे।

शिक्षा—काशी आने के बाद यहीं इनका स्थायी निवास हो गया। पंडित जी की शिक्षा सं० १९४० ( ४ अगस्त १८८३ ) से काशी के क्वींस कालिजिएट स्कूल में

प्रारंभ हुई और वहीं से इन्होंने संवत् १९५१ (सन् १८९४) में विज्ञान लेकर द्वितीय श्रेणी में स्कूल की फाइनल परीक्षा पास की। उसी वर्ष क्वींस कालेज में भरती हुए और १९५७ में बी० ए० उत्तीर्ण होकर कालेज छोड़ा। इंटरमीडिएट में इन्होंने फारसी ली थी और बी० ए० में रसायनशास्त्र (केमिस्ट्री) और दर्शन।

शिक्षा-निरीक्षक तथा अध्यापक— कालेज छोड़ने के बाद उसी वर्ष ये राजकीय सेवा में नियुक्त हुए और उत्तरप्रदेशीय शिक्षा-विभाग में सब-डिप्टी इन्सपेक्टर के पद पर एक वर्ष जौनपुर रहे। वहाँ से डिप्टी इन्सपेक्टर होकर बस्ती, फिर बनारस गए और १९६५ तक उसी पद पर रहे। तदनंतर दस मास तक भारत-सरकार के प्रधान शिक्षा-संचालक (डायरेक्टर जनरल ऑव एजुकेशन) के कार्यालय में शिमला में कार्य किया। वहाँ से फिर डिप्टी-इन्सपेक्टर के पद पर बरेली और जौनपुर गए। बनारस में छः वर्ष तक डिप्टी इन्सपेक्टर रहे।

सं० १९६७ (४ अगस्त १९१०) में वे सरकारी आज्ञा से काशी के हरिश्चंद्र स्कूल के प्रधानाध्यापक के पद पर भेजे गए। यहाँ से संवत् १९७७ में गवर्नमेंट स्कूल के प्रधानाध्यापक होकर देवरिया गए और १९७९ में उसी पद पर मिर्जापुर में स्थानांतरित हुए। यहाँ से सरकार ने महामना प० मदनमोहन मालवीय के आग्रह पर इन्हें काशी के सेंट्रल हिंदू स्कूल के प्रधानाध्यापक पद पर भेजा, जहाँ इन्होंने सं० १९८० (२० जुलाई, १९२३) से कार्य आरंभ किया और आठ वर्ष कार्य करके राजकीय सेवा से निवृत्त हो गए। परंतु प्रधानाध्यापक के पद पर १९४४ तक कार्य करते रहे। इसके बाद ये वैतनिक सेवा से अवकाश ग्रहण कर अवैतनिक रूप से सार्वजनिक सेवा-कार्यों में अपना प्रायः पूरा समय देने लगे। सं० १९९५ से १९९९ तक ये काशी के दयानंद इंटर कालेज के अवैतनिक प्रिंसिपल रहे।

सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शिक्षा-संबंधी कार्यों की ओर पंडित जी की प्रवृत्ति प्रारंभ ही से थी और इनके लिये वैतनिक वा अवैतनिक, जो भी अवसर इन्हें मिले उनका इन्होंने पूरा सदुपयोग किया। इससे राजकीय सेवा के पदों पर भी इनकी बराबर उन्नति हुई और सार्वजनिक कार्यक्षेत्रों में भी प्रतिष्ठा मिली। ४०) मासिक पर इनकी प्रारंभिक नियुक्ति हुई थी। देवरिया में प्रांतीय शिक्षा-सेवा (पी० ई० एस०) में प्रविष्ट होने पर २००) २०)-१००) वेतन-मान निश्चित हुआ और पेन्शन २२१) मासिक पर हुई।

इनके प्रधानाध्यापकत्व में काशी के हरिश्चंद्र स्कूल ने प्रशंसनीय उन्नति की। यहाँ से बिदाई के समय उत्तरप्रदेश के गवर्नर की ओर से बनारस के कमिश्नर ने इन्हें इनकी प्रशंनीय सार्वजनिक सेवा के उपलक्ष में एक घड़ी भेंट की थी। संवत् १९६७ से १९७३ तक ये बनारस म्युनिसिपल बोर्ड के सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य थे तथा उसकी शिक्षा-समिति के अध्यक्ष चुने गए थे। सरकार द्वारा ये उत्तारप्रदेशीय उच्च एवं माध्यमिक शिक्षा-परिषद्, प्रांतीय पाठ्य-पुस्तक-समिति, शिक्षा-नियम-संशोधन-समिति, तथा तीन बार उत्तारप्रदेशीय हिंदुस्तानी एकेडेमी के भी सदस्य नियुक्त किए गए थे।

**यूरप-यात्रा तथा एशियाई शिक्षा-सम्मेलन**—संवत् १९७६ में, जब ये हिंदू स्कूल में प्रधानाध्यापक थे, इन्होंने छः मास की छुट्टी लेकर यूरप-यात्रा की और वहाँ जेनेवा में ये विश्व-शिक्षा-संस्था-संघ में और एलसिनो ( डेनमार्क ) में 'न्यू-फेलोशिप' सम्मेलन में सम्मिलित हुए तथा अन्य देशों में भ्रमण कर इन्होंने स्वीजरलैंड, जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रांस, स्वीडन, डेनमार्क एवं विशेषतः इंगलैंड की शिक्षा-पद्धतियों का अध्ययन किया। वहाँ से स्वदेश आकर दूसरे वर्ष संवत् १९७७ ( दिसंबर १९३० ) में हिंदू स्कूल में ही अखिल-एशिया-शिक्षा-सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें भारत सरकार तथा प्रांतीय सरकारों एवं राज्यों से सहायता और सहयोग प्राप्त हुआ।

**स्त्री-शिक्षा में रुचि**—पंडित जी का ध्यान जितना बालकों की शिक्षा की ओर था उतना ही बालिकाओं की भी। जब वे बनारस में डिप्टी इन्सपेक्टर थे तब उनके प्रयत्न से यहाँ स्त्री-शिक्षा का काफी प्रचार हुआ था, यद्यपि उस समय लोगों की प्रवृत्ति इसके अत्यंत प्रतिकूल थी। हिंदू स्कूल में प्रधानाध्यापक रहते हुए ये हिंदू कन्या-विद्यालय के पदेन मंत्री भी थे। उस समय विद्यालय की पर्याप्त उन्नति हुई। ऐसा नहीं था कि वे केवल घर के बाहर ही स्त्री-शिक्षा का प्रचार करते रहे हों, अपने परिवार में भी वे इस ओर विशेष प्रयत्नशील रहते थे।

**सामाजिक और धार्मिक विचार**—पंडित जी के सामाजिक और धार्मिक विचार उदार थे। स्वामी दयानंद, महादेव गोविंद रानाडे और महामना मालवीय जी के विचारों और कार्यों का उनके ऊपर बहुत प्रभाव था। रानाडे का तो उन्होंने जीवन-चरित भी लिखा है। आर्यसमाज की ओर उनका विशेष झुकाव था और काशी आर्यसमाज के वे प्रतिष्ठित कार्यकर्ता भी थे। समाज-सुधार के संबंध में वे आर्यसमाज के ही विचारों को मानते थे—बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा एवं अस्पृश्यता

आदि के विरोधी थे तथा शुद्धि, विधवा-विवाह, स्त्री-शिक्षा आदि के समर्थक एवं आर्यभाषा के प्रेमी। परंतु उनमें किसी प्रकार की कट्टरता न थी और अन्य मतों, धर्मों एवं विचारों के प्रति भी उनका व्यवहार आदरपूर्ण होता था।

हिंदी-प्रेम—हिंदी भाषा से पंडित जी को सहज प्रेम था। स्वयं तो इसका व्यवहार करते ही थे, इसके संरक्षण एवं प्रचार के लिये हर प्रकार से निरंतर प्रयत्नशील रहते तथा दूसरों को भी इसके लिये प्रोत्साहित करते थे। हिंदी में अपनी रुचि के उपयोगी विषयों पर लेख और पुस्तकें भी लिखा करते थे। उनके निम्नलिखित लेख और पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं—

१. जापान का इतिहास ( लेख )
२. पारसी जाति का इतिहास ( लेख )
३. महादेव गोविंद रानाडे ( जीवनचरित ) } नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा
४. यूरप में छः मास
५. बालोपदेश
६. हिंदुस्तानी शिष्टाचार } इंडियन प्रेस, प्रयाग द्वारा

इनमें हिंदुस्तानी शिष्टाचार का सबसे अधिक प्रचार हुआ और सं० २००७ तक उसके तेरह संस्करण हो चुके थे। उर्दू और गुजराती में उसका अनुवाद भी हुआ। अब 'भारतीय शिष्टाचार' के नाम से वह नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित है।

पंडित जी के हिंदी-प्रेम के कारण उन्हें हिंदी-प्रचारिणी संस्थाएँ समय-समय पर सम्मानित किया करती थीं। दक्षिण-भारत हिंदी-प्रचार-सम्मेलन ( मद्रास, सं० १९९५ ), अखिल-भारतीय आर्यकुमार-सम्मेलन के राष्ट्रभाषा सम्मेलन ( मुरादाबाद, स० २००१ ), तथा पंजाब-आर्य-प्रतिनिधि-सभा की स्वर्ण-जयंती के अवसर पर हुए राष्ट्रभाषा-सम्मेलन ( लाहोर, सं० २००३ ) के वे सभापति चुने गए थे। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से तो उनका घनिष्ठ संबंध था ही जिसका उल्लेख आगे किया जायगा, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग ने सं० २००५ में उन्हें "साहित्य-वाचस्पति" की उपाधि प्रदान की थी।

मृत्यु—पंडित जी की मृत्यु सं० २००९ में शिवरात्रि के दिन ( ११ फरवरी, १९५३ ) बुधवार की रात्रि में हुई। इस प्रकार उन्होंने लगभग ७७ वर्ष की आयु पाई।

परिवार—पंडित जी अपने पीछे अपने पुत्र तथा पुत्रियों का चालीस प्राणियों का बड़ा परिवार छोड़ गए हैं। उनकी छः पुत्रियों से आठ नाती और ग्यारह नतनियाँ हैं। उनके एक मात्र सुपुत्र श्री श्रीशचंद्र शर्मा बी०ए०, एल०एल० बी० बी० टी० हैं, जिनसे दो पौत्र और दो पौत्रियाँ हैं। पूरा परिवार शिक्षित एवं उन्नतिशील है। परिवार में कई स्त्रियाँ एवं पुरुष उच्च-शिक्षा-प्राप्त एवं अच्छे पदों पर नियुक्त हैं। एक दामाद श्री ब्रजभूषण शरण जेतली, एम० ए०, एल० एल० बी० उत्तर-प्रदेश पुलिस के डिप्टी इन्सपेक्टर जनरल हैं। नाती श्री मोतीचंद, एम० ए०, बी० टी० बनारस नगरपालिका के शिक्षा-अधीक्षक हैं तथा नतनी श्रीमती शीला एम० ए, बी० टी० राज्य के शिक्षा-विभाग में बनारस में ही कन्या-विद्यालयों की सहायक निरीक्षिका हैं। पुत्र श्री श्रीशचंद्र शर्मा काशी के दयानंद इंटर कालेज में अध्यापक हैं। परिवार के सभी व्यक्ति हिंदी-प्रेमी हैं। पंडित जी ने जिस प्रकार सार्वजनिक जीवन में उन्नति की उसी प्रकार उनका पारिवारिक जीवन भी सफल था।

नागरीप्रचारिणी सभा—काशी नागरीप्रचारिणी सभा से पंडित जी का संबंध उसके जन्म-काल से उनकी मृत्यु-पर्यंत बराबर बना रहा और वह संबंध अमिट है। वे इस सभा के संस्थापकत्रय में से अन्यतम थे। सं० १९९४ में, जब उन्होंने हिंदू स्कूल के प्रधानाध्यापकत्व से अवकाश ग्रहण किया, वे सभा की ओर विशेष रूप से दत्तचित्त हुए और तब से उसके किसी न किसी पद पर अंत तक बने रहे। सं० १९९४ में जब वे सभा में आए तो उनके समक्ष दो मुख्य समस्याएँ उपस्थित हुईं—एक तो भारत कलाभवन, दूसरे सभा की आर्थिक स्थिति। सभा के अन्य संस्थापक स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुंदरदास लगभग पैंतालीस वर्षों तक सभा की सेवा करने के बाद त्यागपत्र देकर अवकाश ले चुके थे। भारत-कलाभवन और सभा के सामने कुछ ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित हो गई थीं जिनसे सभा ने उसके उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाने का निश्चय कर लिया था। पंडित जी ने बड़े सौहार्दपूर्ण ढंग से उन तात्कालिक कठिनाइयों को दूर कर दोनों का संबंध दृढ़ किया, जिससे कार्य सुचारु रूप से चलने लगा।

सभा की आर्थिक स्थिति उस समय अच्छी न थी और उसपर लगभग पचीस हजार का ऋण हो गया था। सभा के प्रकाशन-कार्य का मुख्यांश इंडियन

प्रेस 'प्रयाग' के हाथों में था, जिससे अपने प्रकाशनों से सभा को बहुत कम आय होती थी। सभा के स्थायी कोष में कुछ भी धन नहीं था। पंडित जी ने स्थायी कोष में एक लाख रुपया जमा करने का संकल्प किया और उसके लिये प्रयत्न करते रहे, जिसके फलस्वरूप उनकी मृत्यु से पहले ही उस कोष में एक लाख रुपए से अधिक जमा हो गया था। इस स्थायी कोष तथा सभा की अन्य समस्त स्थायी निधियों को उनकी सुरक्षा की दृष्टि से उन्होंने उत्तर-प्रदेश के दान-निधि-कोषाध्यक्ष ( ट्रेजरर, चैरिटेब्ल एंडाउमेंट्स ) के पास जमा करा दिया था, जहाँ से प्रति वर्ष उनका व्याज सभा को मिलता है। आर्थिक दृष्टि से सभा के हित में यह एक बहुत बड़ा कार्य हुआ जिससे सभा की आर्थिक सुरक्षा का आधार दृढ़ हो गया। इसके अनंतर धीरे-धीरे अपना पुस्तक-प्रकाशन का भी संपूर्ण कार्य सभा ने अपने हाथों में ले लिया, जिससे उसकी आय में वृद्धि हुई। कलकत्ता आदि नगरों में सभा का प्रतिनिधि-मंडल ले जाकर भी पंडित जी ने सभा के लिये चंदा एकत्र किया।

पंडित जी दूसरों से तो सभा के लिये चंदा माँगते ही थे, स्वयं भी उन्होंने हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि में लेखकों को प्रोत्साहन देने के लिये अपने मामा की स्मृति में पुरस्कार-प्रदानार्थ सभा को रुपए दिए, जिनसे १६००) अंकित मूल्य के सरकारी कागज डा० छन्नूलाल पुरस्कार-निधि के लिये तथा १००) अंकित मूल्य के ग्रीञ्ज पदक के लिये खरीदे गए। इस पदक के साथ डा० छन्नूलाल पुरस्कार हर चौथे वर्ष सभा हिंदी में विज्ञान की सर्वोत्तम प्रकाशित पुस्तक पर दिया करती है। सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय के लिये पंडित जी ने अपने निजी संग्रह की लगभग १२०० पुस्तकें प्रदान कीं, जो उनके चिरंजीव के नाम पर श्रीशचंद्र-संग्रह में आर्यभाषा-पुस्तकालय में सुरक्षित हैं।

पंडित जी के उद्योग से स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने अपना ज्वालापुर का सत्यज्ञान-निकेतन सभा को अर्पित कर दिया। उत्तर एवं पश्चिम भारत में हिंदी-प्रचार के लिये यह एक सुंदर एवं उपयुक्त केंद्रस्थान है। इसकी संपूर्ण व्यवस्था का उत्तरदायित्व पंडित जी को ही सौंप दिया गया था, और वे अंत तक उसे निभाते रहे।

मृत्यु के कुछ मास पूर्व से ही पंडित जी सभा की हीरक-जयंती मनाने के लिये

विशेष उत्साहित रहते थे, किंतु महाकाल ने उनके जीवन में उनकी वह इच्छा पूरी न होने दी।

पंडित जी का जीवन सदा कार्यव्यस्त रहा। उनमें कार्य करने की अद्भुत शक्ति थी और वृद्धावस्था में भी जीवन के अंतिम दिनों तक उनमें नवयुवकों का सा उत्साह बना रहा। उनका जीवन बहुत नियमित, नवयुवकों के लिये अनुकरणीय था। शिष्टाचार एवं समय-पालन का वे बहुत ध्यान रखते थे और दूसरों को भी इसका उपदेश देते थे। नागरीप्रचारिणी सभा के अतिरिक्त इस प्रदेश, विशेषतः इस काशी नगर की कितनी ही शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं को उनकी प्रेरणा तथा सहयोग प्राप्त था। वे बड़े तपे प्राणवान् सार्वजनिक कार्यकर्ता थे।

# संस्मरण-श्रद्धांजलियाँ

## बाल्य बंधु रामनारायण मिश्र जी

शांतिनिकेतन,
२३ नवम्बर ५३

प्रियवरेषु,

यह जानकर हार्दिक आनंद हुआ कि आगामी बसंत-पंचमी को काशी नागरीप्रचारिणी सभा अपनी हीरक-जयंती मनाने जा रही है। यह उचित ही है कि इस शुभ अवसर पर नागरीप्रचारिणी पत्रिका अपना विशेषांक प्रकाशित करे एवं यह अंक सभा के चिरस्मरणीय संस्थापक स्वर्गीय पंडित रामनारायण मिश्र की स्मृति में समर्पित हो। मैं इस आयोजन का हृदय से अभिनंदन करता हूँ।

स्व० रामनारायण मिश्र जी मेरे बाल्य-बंधु थे। वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में हम दोनों ने कुछ वर्ष साथ-साथ अध्ययन में बिताए थे। आज सुदीर्घ काल के बाद मिश्र जी की समग्र मूर्ति ही मेरे चित्त में सुस्पष्ट हो रही है। पृथ्वी कहीं ऊँची-नीची है तो कहीं ऊबड़-खाबड़, किंतु पृथ्वी को यदि किसी सुदूर नक्षत्र-लोक से देखा जाय तो उसकी एक समग्र वर्तुलाकार मूर्ति ही सामने आती है। मनुष्य के जीवन में काल एक ऐसा ही व्यवधान उत्पन्न करता है जिसके सहारे हम अपने प्रिय-जनों की ऐसी ही सुसंपूर्ण मूर्ति के दर्शन करते हैं।

स्व० मिश्र जी की सादगी, ईमानदारी और साहित्य के प्रति उनकी अक्लांत निष्ठा प्रसिद्ध ही थी। जीवन भर वे अपनी पूरी लगन के साथ उस नागरीप्रचारिणी सभा की सेवा करते रहे जिसके संस्थापकों में से वे स्वयं एक थे। यह उन जैसे तपस्वियों की साधना का ही फल है जो आज नागरीप्रचारिणी सभा अपने विकास को प्राप्त करके हीरक-जयंती मनाने जा रही है। स्व० मिश्र जी की स्मृति को श्रद्धा निवेदन करके सभा अपने-आपको ही गौरवान्वित कर रही है।

आपका,
क्षितिमोहन सेन

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी,
काशी।

# मानव-धर्म के पुजारी

कौन कौन गुन कहौं राम के कहँ सहसमुख पाऊँ

मुझे तो स्वर्गीय रामनारायण मिश्र जी मानवता के अवतार, मानव-धर्म के पालक और रक्षक के ही रूप में दीख पड़ते थे। मैं उनको शुद्ध सनातन धर्म का एक उपासक और विश्व-बंधुत्व का पुजारी मानता था। मनु भगवान के बतलाए हुए धर्म-मार्ग के वे एक पथिक थे।

जैन-धर्मावलंबी सज्जन उनके सहयोगी और साथी थे। बौद्ध-धर्मावलंबी उनके मित्र थे। ईसाई और इसलाम धर्म के उपासक उनसे सहर्ष सहायता पाने की इच्छा और आशा रखते थे। आर्यसमाज के सिद्धांतों को वे परमोपयोगी मानते थे और विश्व के किसी संप्रदाय वालों से वे द्वेष नहीं रखते थे।

वर्णाश्रम-धर्म के वे प्रशंसक और आधुनिक 'हरिजन' कहलानेवाले वर्ग के एक सच्चे सहायक और हितैषी थे।

वे एक सच्चे देशहितैषी, विद्यानुरागी, संस्कृत और हिंदी भाषा के प्रचारक, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनुयायी, सज्जन सदाचारी पुरुष थे। उनके ऐसे महानुभाव का गुण-गान करना, सूरज को दीपक दिखाना ही कहा जायगा। पर वे मेरे एक बाल-सखा, मेरे मित्र, मेरे स्वामी, मेरे गुरु, मेरे परम हितैषी, सहायक, छोटे भाई और सेवक थे। अतएव मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि स्व० पं० रामनारायण मिश्र अपने समय के दृढ़-प्रतिज्ञ भीष्म, न्याय-पथ से कभी विचलित न होनेवाले धर्मराज, शरणागत-वत्सल शिवि, और आक्रमणकारी का सहर्ष और सगर्व सामना करनेवाले धनंजय थे।

वे काशी के एक अमूल्य रत्न और नागरीप्रचारिणी सभा, काशी के प्राण थे। स्वर्गीय डाक्टर श्यामसुंदरदास के साथ तथा उनके पीछे सभा की सेवा करनेवालों में वे सबसे आगे ही आगे रहते थे। वे 'एकला चलो रे' गीत के गानेवाले और अपने कर्तव्य का पालन करने ही को धर्म माननेवाले एक परोपकारी प्राणी थे। ऐसे महानुभाव का गुण-कीर्तन करना उनके गुणों को ग्रहण कर चलने का प्रयत्न करना ही माना जायगा। परमात्मा उनके अनुयायियों और सच्चे मित्रों को बल और बुद्धि दें, जिससे वे उनके दिखलाए हुए मार्ग पर चलकर देश-सेवा में संलग्न रहें, यही मेरी प्रार्थना है।

—शिवकुमारसिंह

## स्व० भाई रामनारायण मिश्र

स्व० भाई रामनारायण मिश्र का मेरा साथ क्वींस कॉलेज में हुआ, और हम दोनों ने सन् १९०० में वहाँ से बी० ए० की परीक्षा पास की। उन्हीं के कथनानुसार उनका जन्म संवत् १९३२ के ज्येष्ठ मास में दिल्ली में हुआ था। इस तरह वे मुझसे दो वर्ष बड़े थे। उनके मामा, डाक्टर छन्नूलाल, काशी के प्रसिद्ध चिकित्सकों में थे। उन्हीं के साथ आकर वे लड़कपन से ही यहाँ रहने लगे थे। उनके कोई पुत्र न था, और वे "राम" को पुत्रवत् मानते थे। वे आर्यसमाजी थे।

उन्नीसवीं शती के अंतिम वर्षों में स्वामी दयानंद सरस्वती के विचारों ने काशी में भी हलचल मचा दी थी। अपने समय के वे अद्वितीय विद्वान् और निर्भीक धर्म-और-समाज-सुधारक थे। स्व० श्री गौरीशंकर प्रसाद भी हम लोगों के सहपाठी थे। हम तीनों पर आर्यसमाज के विचारों का प्रभाव पड़ा। उसने लाखों हिंदुओं को प्रेरणा और स्फूर्ति प्रदान की। मैं समाज-विशेष का सदस्य नहीं हुआ, किंतु मेरे दोनों साथी कुछ साल बाद उसमें सम्मिलित हुए। मिश्र जी अपनी व्यवहार-कुशलता से काशी आर्यसमाज के एक दृढ़ स्तंभ बने रहे। विद्यार्थी-जीवन से ही वे सार्वजनिक कामों में भाग लेने लगे थे। नागरीप्रचारिणी सभा उनके कामों में मुख्य थी।

धन्य है वह व्यक्ति जिसको जीवन-यापन के लिये अपने स्वभावानुकूल काम करने को मिल जाय। मिश्र जी की रुचि पढ़ने-पढ़ाने में थी। शिक्षा-विभाग में सब-डिप्टी-इंस्पेक्टरी और फिर डिप्टी-इंस्पेक्टरी मिली। दस वर्ष तक उन पदों पर काम करने के पश्चात् सत्ताईस वर्ष तक उन्होंने हेडमास्टरी की। उसमें से दस वर्ष हरिश्चंद्र स्कूल के और चौदह वर्ष केंद्रीय हिंदू स्कूल के प्रधानाध्यापक रहे। चौबीस वर्ष उनके जीवन के स्वर्ण-युग थे। उस युग में उन्होंने दोनों स्कूलों और नागरीप्रचारिणी सभा में अत्यंत प्रशंसनीय कार्य किए। दरिद्र विद्यार्थियों के लिये सहायता का प्रबंध कर देना, सभा की आर्थिक सहायता के लिये धन जुटा देना और हिंदी-प्रचार के लिये प्रयत्न करते रहना, उनका आजन्म काम रहा। राजनीतिक क्षेत्र के बाहर, स्थानीय सभा-संस्थाएँ ऐसी बहुत कम होंगी जिनमें आपका सहयोग न रहा हो।

कांग्रेस आंदोलन के साथ उनकी विशेष सहानुभूति न थी। एक तो वे अंग्रेजी सरकार की नौकरी में थे, दूसरे १९२४ में जब महात्मा गांधी ने "यंग इंडिया" में कुछ आर्यसमाजियों के विरुद्ध लिखा था तब से वे मार्ई—सभी नहीं, अधिकांश—उनके प्रति श्रद्धा कम करने लगे थे। उनका कहना था कि "इनका दृष्टिक्षेत्र संकुचित होता है और इनमें झगड़ने की आदत होने से ये प्रायः आपस में भी झगड़ते रहते हैं। जो उदय आर्यसमाज का देखने में आता है वह तो उसके संस्थापक के उच्च चरित्र के कारण है, जिन्होंने हिंदू-धर्म का बड़ा उपकार किया।"

मिश्र जी आदर्श शिक्षक थे और अनन्य हिंदीप्रेमी। उनकी क्रियाशीलता, नीतिकुशलता, अदम्य उत्साह, संघटन-शक्ति और सादे जीवन से हमलोग बहुत-कुछ सीख सकते हैं। वे काशी की एक विभूति थे।

हिंदी राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है। वह तो लोकसभा की एक देन थी। उसको अधिकाधिक उन्नत बनाने के लिये अब हमारा क्या भावी कार्यक्रम होना चाहिए—यह विचारणीय है, विशेष कर इस समय जब सभा की हीरक-जयंती मनाने हम जा रहे हैं। ऐसे कार्य से दिवंगत आत्मा को संतोष और नवजात राष्ट्र को सहायता प्राप्त हो सकेगी।

—गुरुसेवक उपाध्याय

## मेरी कल्पना के श्री रामनारायण मिश्र जी

सन् १९४२ ई० में स्वनामधन्य महात्मा गांधी ने 'भारत छोड़ो' का युद्ध आरंभ किया था। कांग्रेस की वर्किंग कमेटी जेल में थी। भारत के तत्कालीन अन्य नेता भी जहाँ-तहाँ से पकड़ लिए जाते थे और जेल की दीवारों के अंदर बंद थे। सभी सैनिक स्थल या प्रदेश अंग्रेजी सेना से भर गए थे। माउंट आबू भी अंग्रेज सैनिकों से भर गया था। हमलोग वहाँ जंगलों में गुफाओं में रहनेवाले सुरक्षित नहीं थे। उसी वर्ष मैं आबू की चंपा गुफा से अहमदाबाद रहने को आ गया था।

मुक्त वन्य जीवन जीनेवाले को नागरिक जीवन अनुकूल उस समय नहीं पड़ा था। मेरे साथ मेरा पुस्तकालय था। मैं चाहता था कि इसे किसी योग्य और उपयुक्त

संस्था को सौंप दूँ। काशी नागरीप्रचारिणी सभा का मुझे स्मरण हुआ। आशा से जीवन प्रफुल्लित हो उठा। मैंने सभा को पत्र लिखा। उसी समय से मैं पंडित श्री रामनारायण जी के संपर्क में आया। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो श्री पंडित जी ने ही मुझे लिखा था कि सभा के पास आलमारियाँ नहीं है, अतः यदि तुम कहो तो क्वींस कालेज के सरस्वती पुस्तकालय या सरस्वती भवन में तुम्हारे सब ग्रंथ रखवा देने का प्रबंध करूँ। मैंने उत्तर में लिखा था कि वह कालेज सरकारी है और मैं सत्याग्रही हूँ, अतः उस संस्था को मैं अपनी कोई भी वस्तु नहीं देना चाहता। यह प्रकरण यहाँ ही पूरा हुआ।

१३ अप्रैल १९४५ में हरद्वार का अर्धकुंभ था। उस समय वहाँ हिंदी-प्रचार-सप्ताह मनाने की योजना सभा की ओर से हुई। साइक्लोस्टाइल से छपी हुई विज्ञप्ति सर्वत्र भेजी गई थी, मेरे पास भी आई। उसके परिसर में श्री पंडित जी ने अपने शुभ करकमलों से लिखा—

श्रीमान् स्वामी जी, इस शुभ अवसर पर आप कृपाकर पधारें और इस आयोजन को सफल बनाने के लिये धन दें और दिलावें। ५००) देकर आप सभा के विशिष्ट सभासद् बनकर सभा के गौरव को बढाइए।

कृपाभिलाषी

रामनारायण मिश्र

श्री पंडित जी को पता नहीं था कि मैं निर्धन संन्यासी हूँ अतः उन्होंने रुपए की माँग की और मैं कुछ भी उनकी सेवा में नहीं भेज सका। इस बात का जितना दुःख मुझे उस समय हुआ था उससे कई गुना दुःख आज हो रहा है जब वे इस जगत् में उस शरीर से नहीं हैं। वह पत्र ता० २०-१२-४४ का लिखा हुआ था।

श्री पंडित जी का यह संबंध बना ही रहा। सन् ५२ में मैं दूसरी बार ईस्ट अफ्रिका जा रहा था। इसकी सूचना मैंने श्री पंडित जी को दी थी। इसपर उन्होंने मुझे लिखा था—

नागरीप्रचारिणी सभा

१२०९।५९ काशी १६-१-५२

श्रीमान् स्वामी जी, सप्रेम नमस्कार।

आपका २६ $\frac{12}{52}$ का कृपापत्र मिला। धन्यवाद। बड़े हर्ष की बात है कि आप विदेश जा रहे हैं। कृपाकर हर एक स्थान पर जहाँ आप जाएँ वहाँ के भारतीय निवासियों द्वारा अथवा दूतावास द्वारा पता लगाएँ कि वहाँ हिंदी का कितना प्रचार है। भारतीय

दूतावासों को प्रेरित करें कि वे हिंदी में पत्रव्यवहार करने की चेष्टा करें। जहाँ हिंदी-प्रचारिणी सभाएँ हों उनका नाम और पता भी लिखने की कृपा करें। इस संबंध में आपके जितने पत्र मेरे पास आएँगे मैं सुरक्षित रखूँगा और सभा की हीरक-जयंती पर जो संवत् २०१० में होगी। उसका उपयोग करूँगा।

कृपापात्र

रामनारायण मिश्र

इनके अतिरिक्त कुछ और भी पत्र श्री पंडित जी के मेरे पास हैं, परंतु वे इस समय नहीं मिल रहे हैं। उपर्युक्त पत्रों से ही मैं, श्री पंडित जी क्या थे इसे समझ सकता हूँ। महापुरुष का लक्षण यह है कि किसी प्रारब्ध कार्य का अंत तक उसी उत्साह और उसी उमंग से रक्षण और संवर्धन करे। श्री पंडित जी काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में से थे। हम देख रहे हैं कि उनके समस्त जीवन से यह संस्था कभी अलग नहीं हुई। उसका ध्येय पंडित जी के समक्ष सर्वदा उपस्थित रहता था। विदेशों में भी हिंदी का पुष्कल प्रचार हो, यह पंडित जी को सदा इष्ट रहा। अपनी देशभाषा किस प्रकार गौरवान्वित बने और रहे, इसका ध्यान उन्होंने सदा ही रखा।

पुरुष जिस मिट्टी में से पैदा हुआ है और जिस जलवायु से पला है उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने में वह कभी शिथिल नहीं रहेगा। विदेशों में रहनेवाले भारतीय अवश्य ही धनार्जन के चक्र में पड़कर भारतीय सभ्यता को भूल जाते हैं। उन्हें यह स्मरण नहीं रहता कि हमें एक भी कार्य ऐसा नहीं करना चाहिए अथवा हमारा एक भी व्यवहार ऐसा नहीं होना चाहिए जिससे हमारी मातृभूमि को कलंक लगे। इसे स्मरण कराना ही किसी भी देशभक्त और ज्ञानी का कार्य होना चाहिए। मैंने श्री पंडित जी की इस सदिच्छा का यथाशक्ति पूर्ण रूप से निर्वाह किया है। भारतीय संस्कृति, जिसमें वैदिक संस्कृति ओतप्रोत है, विदेश में मेरे प्रवचन का मुख्य अंग थी।

पंडित जी के देश-प्रेम, हिंदी-प्रेम, गुण-निरीक्षण, विद्वदनुराग, स्वकर्म-निष्ठा, स्थैर्य आदि महनीय गुणों ने उन्हें अवश्य ही एक महान् पुरुष बनाया। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी उनके महोच्च मनोभाव की झाँकी सदा ही कराती रहेगी। उनके परोक्ष और अपरोक्ष मित्र और प्रशंसक सदा उन्हें जीवित रखेंगे। उनका

अदम्य उत्साह उनके परवर्ती कार्यकर्ताओं में उत्साह का प्रवाह अनवरत प्रवाहित रखेगा, यह ध्रुव है।

पंडित जी के दर्शन की इच्छा मेरी अपूर्ण ही रही। इसका मुझे दुःख है। परंतु यदि मैं कभी काशी नागरीप्रचारिणी सभा को पाँच सौ रुपए दे-दिला सका तो मुझे अवश्य एक संतोष होगा, जिसका मुझे गौरव होगा।

—स्वामी भगवदाचार्य

## श्रद्धेय बाबू जी

मैं तीन भाइयों की संतान में एकमात्र पुत्र था। धनिक परिवार में और इकलौता पुत्र होते हुए भी, मेरे भविष्य की भलाई के लिये मुझे मेरे पिता ( स्वर्गीय श्री राय कृष्ण जी ) ने अपने परम मित्र तथा सहपाठी पं० रामनारायण मिश्र के समीप शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेजा। मैं सन् १९१५ से १९१८ तक गुरुदेव के घर में रहा। उन्होंने मुझे किताबी कीड़ा न बनाकर, दैनिक जीवन में जो भी कार्य मनुष्य के लिये उपयोगी हैं उन कार्यों का अनुभव विचार-शक्ति द्वारा करवाया। मुझे उन कार्यों में शारीरिक तथा मानसिक कष्ट का अनुभव होता था। कारण, मैं उनका अभ्यस्त न था। इसकी चर्चा मैंने अपनी माता जी तथा दादी जी से की। पिता जी से कहने का साहस न होता था। परंतु पिता जी ने सुनकर भी अनसुनी कर दी। उनके कानों पर जूँ तक न रेंगी। मैं उसी प्रकार वहाँ रहकर पढ़ता रहा। गाड़ी-घोड़ा-नौकर-मास्टर, सब होते हुए भी श्रद्धेय पंडित जी अपने बाग से, जो मामूरगंज में था, मुझे पैदल चलाकर ले जाते थे। साथ-साथ गाड़ी भी रहती थी। मेरा मन करता था कि गाड़ी में बैठ जाऊँ। पहले दिन पंडित जी ने थोड़ी दूर चल कर गाड़ी में बैठा दिया। १५ दिन में कालभैरव से मामूरगंज तक मैं बिलकुल पैदल जाने लगा। प्रातःकाल मुझे बहुत जल्दी ही चार बजे उठा दिया जाता था और शौचादि के पश्चात् दौड़ाया जाता था। फिर स्वयं कुएँ से पानी खींचना सिखलाया जाता था। वस्त्रादि भी समय-समय पर साफ कराने का अभ्यास कराया जाता था। पंडित जी ने बहुत सी गोप्य बातें भी मुझे बतलाईं। वही बातें मेरे ज्ञान-भंडार की निधि हैं। मुझपर उनकी शिक्षा का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि मैं अपने दैनिक जीवन में बाल्यावस्था ही की तरह अब तक प्रातःकाल उठता हूँ और बाग में टहलता हूँ।

बाबू जी का यह जन्मसिद्ध नियम था कि जो व्यक्ति उनके पास आए, उसकी इच्छा पूर्ण करते थे। सबको पठन-पाठन में सहायता और दीन-दुःखियों को दान देते थे। आजकल के वातावरण के फलस्वरूप उनके कार्य में बाधा पड़ने लगी थी। लोगों ने उन गरीबों की सहायता नहीं की, जिनकी पंडित जी ने सिफारिश की थी। इससे उन्हें काफी ठेस लगी थी।

प्रातःकाल का टहलना उनका नियमित तथा दैनिक कार्य था। हमलोग उन्हें शतायु समझते थे। पर काल की गति कौन जाने ? उनके शरीर की गठन से हमलोग कभी अनुमान भी नहीं करते थे कि वे हमें इतने शीघ्र छोड़कर चले जायँगे। महाशिवरात्रि को प्रातःकाल जब मैं ज्वर से पीड़ित शय्या पर पड़ा था, फोन द्वारा ज्ञात हुआ कि पूज्य पंडित जी की हृदय-गति रुक जाने से आकस्मिक मृत्यु हो गई। उनके अंतिम दर्शनों की इच्छा हुई, पर पूज्य ताई जी ने ज्वर की निर्बलता के कारण जाने की आज्ञा न दी। अतः घर पर ही वस्त्र आदि बदलकर विधिवत् शुद्ध हो उन्हें श्रद्धांजलि दी। घर के सब लोग बहुत दुःखी थे। पंडित जी की इच्छा थी कि अंत में संन्यास लें। पर इसका मौका ही उन्हें नहीं मिला।

पंडित जी से, विद्यार्थियों का तो कहना ही क्या, अन्य आर्तजन भी विमुख नहीं लौटते थे। जब मैं उनकी 'छत्रछाया' में रहता था तब प्रायः देखता था कि उनके एक प्रिय शिष्य इंद्रदेव शर्मा थे, जो उन दिनों हेड क्लर्क थे—उन्हीं के पास पंडित जी का व्यक्तिगत हिसाब भी रहा करता था। पंडित जी का नियम था कि अपना वेतन स्वयं नहीं लेते थे। समय-समय पर पंडित जी के लिखे अनुसार वही दे दिया करते थे। एक दिन इंद्रदेव जी ने आकर निवेदन किया कि ५०) आपने दो महीने पूर्व किसी विद्यार्थी को दिलवाया था और कहा था कि वह विद्यार्थी घर जाकर लौटा देगा। उस विद्यार्थी को घर से आए भी कितने दिन हो गए, क्या उससे पूछा जाय ? पंडित जी ने हँसकर कहा—"तुम नहीं जानते, वह विद्यार्थी गरीब है। शाम को चना खाकर रहता था। उसने ५०) एम० ए० की फीस के लिये लिए थे। वह स्वयं देगा और न भी दे, तो कोई हानि नहीं। इंद्रदेव चुपचाप चले गए। कभी-कभी एक मौलवी साहब आकर कुछ रुपए ले जाया करते थे। श्रद्धेय पंडित जी ने पूछने पर कहा—"देखो, मौलवी साहिब बहुत 'आलिम फाजिल' हैं। अब बूढ़े हो गए। उन्हें कौन देखेगा ?" एक लड़का जो पंडित जी का भोजन बनाता था, इस समय बहुत उच्च

पद पर है। जो नाई का लड़का उनकी हजामत बनाता था, वह भी पूर्ण शिक्षित होकर और ऊँचे पद पर नियुक्त होकर उनके गुणगान कर रहा है।

अब जमींदारी टूट गई। नौकर कम हो गए। फिर भी श्रद्धेय पंडित जी की शिक्षा से यह मुझे तनिक भी नहीं अखरता। मैं उसी समय से आत्मनिर्भर हो गया हूँ, इससे किसी के जाने से मुझे कष्ट नहीं होता। एक बार घर के नौकरों ने हड़ताल कर दी थी। उस दिन सर तेजबहादुर सप्रू जो पिता जी के मित्र थे, आये हुए थे। मैंने तथा मेरे चाचा राय गोविंदचंद्र जी ने, जिन्होंने मेरे साथ ही श्रद्धेय मिश्र जी के यहाँ शिक्षा पाई थी, प्रातःकाल कुएँ से पानी खींचा, कमरे साफ किए तथा स्नान के लिये पानी भरा। जब पिता जी उठे तब सब काम तैयार पाया। उस समय स्वर्गीय पंडित जी की याद आई। पिता जी ने इन्हें बुलाया तथा सप्रू जी के सामने इन्हें धन्यवाद दिया। इससे मेरा उत्साह दूना बढ़ गया। इस प्रकार पंडित जी का हम लोगों पर इतना उपकार है। और ऐसा ही उपकार उन्होंने और भी बहुत से लोगों के साथ किया।

—( राय ) श्रीकृष्ण

## पंडित रामनारायण मिश्र की हिंदी-सेवा

भारत की सर्वश्रेष्ठ हिंदी संस्था नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की संस्थापना आज से ६० वर्ष पूर्व बाबू श्यामसुंदरदास, पं० रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह ने की थी। पंडित जी सभा के सर्वप्रथम उपमंत्री थे और सं० १९५३ और ५४ में भी उसी पद पर रहे। उसके बाद समय-समय पर वे सभा के प्रधान मंत्री, उपसभापति तथा सभापति भी रहे। पंडित जी प्रायः नित्य सभा में जाते थे; कोई काम न रहता तो भी एक बार टहलने ही चले जाते थे। सभा के प्रति उनके हृदय में अगाध प्रेम भरा हुआ था। भारत के कोने-कोने में उन्होंने सभा का गुणगान किया और उसके महत्त्व को बढ़ाया।

पंडित जी पंजाब के थे और जानते थे कि वहाँ हिंदी का प्रचार बहुत कम है, वहाँ उर्दू का बोलबाला है। उन्होंने पंजाब, कश्मीर तथा पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में कई बार यात्रा करके हिंदी-प्रचार की धूम मचा दी। सन् १९४३ में उन्होंने स्वामी सत्यदेव की सहायता और सहयोग से ज्वालापुर में सत्यज्ञान-निकेतन में पश्चिम-भारत हिंदी-प्रचार-केंद्र स्थापित किया। वहाँ २ अक्टूबर १९५२ को उन्होंने स्वर्गीय

श्रीमती रामदुलारी दुबे की सहायता से एक बहुत बड़ा हिंदी का पुस्तकालय स्थापित किया। दिल्ली, पंजाब और उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी जिलों में हिंदी-प्रचार के लिये मिश्र जी बहुत चिंतित रहते और उसका उपाय किया करते थे।

लगभग चार वर्ष पूर्व मिश्र जी हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति के साथ दक्षिण-भारत गए थे। वहाँ अनेक नगरों में जाकर उन्होंने हिंदी के संबंध में व्याख्यान दिए और हिंदी के प्रति दक्षिण-निवासियों की मिथ्या शंका को दूर किया।

भारत में ही नहीं, विदेशों में भी हिंदी-प्रचार का मिश्र जी बराबर उद्योग किया करते थे। प्रचारकों को प्रोत्साहन देते और सहायता दिलाते थे और पत्र-व्यवहार द्वारा भी बाहर के भारतीयों का संपर्क प्राप्त कर वहाँ हिंदी-संस्थाएँ स्थापित कराते थे।

मृत्यु के दिन तक पंडित जी के हृदय में हिंदी के प्रचार तथा नागरीप्रचारिणी सभा की उन्नति के लिये नवयुवकों का सा प्रेम और उत्साह बना रहा। हिंदी-प्रचार के उस कार्य को मिरंतर आगे बढ़ाते रहकर ही हम आज उन्हें सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

—देवीनारायण ( एडवोकेट )